टी.आर. नं.
यू.पी.एम.यू.एल. ००५९९
षाण्मासिकी

श्रीविद्यामंत्रमहायोग

आगमतन्त्र की शोधपत्रिका

प्रकाशक

श्रीविद्या साधना पीठ

वाराणसी -उ.प्र.

अङ्क- २

वर्ष - २०१२

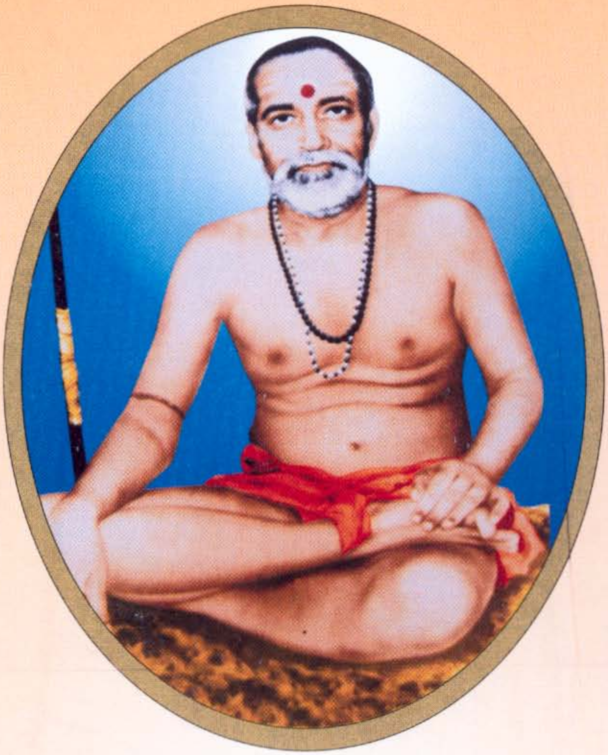

श्रीकरपात्री स्वामी (षोडशानन्दनाथ)

पूज्य गुरूदेव दत्तात्रेयानंदनाथ (सीताराम कविराज)

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीविद्यासाधनापीठ

वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष १ अङ्क २

प्रकाशक
प्रकाशानन्दनाथ
अध्यक्ष,
श्रीविद्यासाधनापीठ, शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी।

१ फरवरी, २०१०

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

T.R.No. UPMUL 00599

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.

BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,

BHU, Varanasi-5

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष १ अङ्क २

Publisher :
Prakashananda Nath
President
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005 (U.P.)
Ph. 0542-2366622

1 Feburary, 2012

Publications are available at :
Publications Unit
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

T.R.No. UPMUL 00599

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

विषय-सूची

	सम्पादकीय	प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी	
काव्य			
१.	श्रीमहागणपति पञ्चकम्	श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथः (श्रीसीतारामकविराजः)	१
२.	श्रीभुवनेश्वरीपञ्चकम्	श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथः (श्रीसीतारामकविराजः)	२
३.	प्रणति-पञ्चकम्	श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथः (श्रीसीतारामकविराजः)	३
शोधलेख			
४.	श्रीविद्यामन्त्रमहायोग	शिवसायुज्यङ्गत श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (श्री सीतारामकविराज)	४
५.	शक्ति-तत्त्व-विमर्श एवं भगवती गायत्री	पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज	२३
६.	तान्त्रिक दृष्टि में शिव, शक्ति और बिन्दु	महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज	३५
७.	शक्तिसाधनाया दार्शनिकं स्वरूपम्	आचार्यो बदरिप्रसादशास्त्री	५२
८.	शङ्कराचार्य-समाराध्या : भगवती त्रिपुरा	आचार्य नटवरलाल जोशी	५८
९.	श्री भास्करराय की मीमांसाशास्त्रीय न्यायोद्भावनपटुता	डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी	६३
१०.	मन्त्रयोग की आगमिक भूमिका	डॉ. चन्द्रकान्ता राय	७१

११.	दक्षिणामूर्ति : तान्त्रिक दृष्टि में गुरु	डॉ. आशीष कुमार जोशी	७७
१२.	तान्त्रिक वाङ्मय में निरूपित हनुमत्तत्त्व	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	८१
१३.	वैदिक एवं आगमिक साधनाओं का अन्त:सम्बन्ध	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	९०
१४.	सर्वपूर्त्तिकरी श्रीललितात्रिशती	आशुतोष जोशी	९४
१५.	संस्कृत साहित्य में आद्यशक्ति स्वरूपा देवी का माहात्म्य	डॉ. स्मिता द्विवेदी	९९
१६.	श्रीविद्यासाधनापीठ, वाराणसी का परिचय		१०३

सम्पादकीय

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नवीन अङ्क प्रस्तुत है। इस अङ्क में पूज्य गुरुदेव श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ रचित तीन स्तोत्र और उनका ही 'श्रीविद्यामन्त्रमहायोग' शीर्षक साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी निबन्ध सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया है। गुरुदेव रचित तीन दिव्यस्तोत्रों को मङ्गलाचरण के रूप में प्रथम सन्निविष्ट किया गया है, तत्पश्चात् इस पत्रिका के नामकरण का रहस्यबोधक पूज्य गुरुदेव का लेख प्रस्तुत है जिसमें उन्होंने तन्त्रशास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर इस गहन विषय को सुस्पष्ट किया है, जो तन्त्रसाधकों के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज का निबन्ध भी इसमें संगृहीत है जिसमें शक्ति तत्त्व पर गंभीर विचार किया गया है और भगवती गायत्री का उपनिषदों में निरूपित स्वरूप भी विशेष रूप से विवेचित हुआ है। पूज्य महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण और साधकों के लिए उपयोगी लेख 'तान्त्रिक दृष्टि में शिव, शक्ति और बिन्दु' भी इस अङ्क की संगृहीत सामग्री में सम्मिलित है। सुप्रसिद्ध पारम्परिक विद्वान् आचार्य बदरिप्रसाद शास्त्री का संस्कृत लेख 'शक्तिसाधना का दार्शनिक स्वरूप' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है जिसमें शक्ति साधना के दार्शनिक स्वरूप और विशेष रूप से वैय्याकरणदर्शन तथा मीमांसा दर्शन में निरूपित शक्ति का निरूपण किया गया है।

आचार्य नटवरलाल जोशी के लेख में भगवान् शङ्कराचार्य की समाराध्या भगवती त्रिपुरा का स्वरूप विवेचित हुआ है। डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी, डॉ. चन्द्रकान्ता राय, डॉ. आशीषकुमार जोशी, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा, डॉ. पुष्पा त्रिपाठी, आशुतोष जोशी तथा डॉ. स्मिता द्विवेदी के विद्वत्तापूर्ण लेख — 'श्री भास्करराय की मीमांसाशास्त्रीय न्यायोद्भावनपटुता', 'मन्त्रयोग की आगमिक भूमिका', 'भगवान् दक्षिणामूर्ति का स्वरूप', 'तान्त्रिक वाङ्मय में निरूपित हनुमत्तत्व', 'वैदिक एवं आगमिक साधनाओं का अन्त:

सम्बन्ध', 'श्रीललितात्रिशती का महत्त्व' तथा 'शक्ति के स्वरूप' तान्त्रिक साधनाओं के विविध आयामों तथा रहस्यों का महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

यह अङ्क न केवल महत्त्वपूर्ण पूर्वप्रकाशित सामग्री को साधकों के लिए उपलब्ध कराता है अपितु नई रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिए उपयोगी होगा।

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का आगामी अङ्क करपात्र स्वामीजी की जयन्ती के शुभ अवसर पर अगस्त मास में प्रकाशित होगा। अतः शास्त्र साधना के क्षेत्र में रत सुधी विद्वज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि उक्त पत्रिका में प्रकाशनार्थ श्रीविद्या, तन्त्र आगम आदि विषयों से सम्बद्ध वैदुष्यपूर्ण शोध लेख श्रीविद्यासाधना पीठ के पते पर प्रेषित कर पत्रिका के पल्लवन एवं उन्नयन में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

— **प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी**
सम्मानित आचार्य
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रीमहागणपतिपञ्चकम्

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ: (श्रीसीतारामकविराज:)

प्रात: स्मरामि गणनाथमुखारविन्दं, नेत्रत्रयं मदसुगन्धितगण्डयुग्मम्।
शुण्डञ्च रत्नघटमण्डितमेकदन्तं, ध्यानेन चिन्तितफलं वितरन्नभीक्ष्णम्।।१।।

प्रात: स्मरामि गणनाथभुजानशेषानब्जादिभिर्विलसितान् लसिताङ्गदैश्च।
उद्दण्डविघ्नपरिखण्डनचण्डदण्डान्, वाञ्छाधिकं प्रतिदिनं वरदानदक्षान्।।२।।

प्रात: स्मरामि गणनाथविशालदेहं, सिन्दूरपुञ्जपरिरञ्जितकान्तिकान्तम्।
मुक्ताफलैर्मणिगणैर्लसितं समन्तात्, श्लिष्टं मुदा दयितया किल सिद्धलक्ष्म्या।।३।।

प्रात: स्तुवे गणपतिं गणराजराजं, मोदप्रमोदसुमुखादिगणैश्च जुष्टम्।
शक्त्यष्टकाभिर्विलसितं नतलोकपालं, भक्तार्तिभञ्जनपरं वरदं वरेण्यम्।।४।।

प्रात: स्मरामि गणनायकनामरूपं, लम्बोदरं परमसुन्दरमेकदन्तम्।
सिद्धिप्रदं गजमुखं सुमुखं शरण्यं, श्रेयस्करं भुवनमङ्गलमादिदेवम्।।५।।

य: श्लोकपञ्चकमिदं पठति प्रभाते, भक्त्या गृहीतचरणो गणनायकस्य।
तस्मै ददाति मुदितो वरदानदक्ष:, चिन्तामणिर्निखिलचिन्तितमर्थकामम्।।६।।

राष्ट्रपतिसम्मानित:
श्रीविद्यासाधनापीठम्
वाराणसी।

श्रीभुवनेश्वरीपञ्चकम्

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथः (श्रीसीतारामकविराजः)

प्रातः स्मरामि भुवनासुविशालभालम्, माणिक्यमौलिलसितं ससुधांशुखण्डम्।
मन्दस्मितं सुमधुरं करुणाकटाक्षं, ताम्बूलपूरितमुखं श्रुति-कुण्डले च।।१।।

प्रातः स्मरामि भुवना-गलशोभिमालां, वक्षःश्रियं ललिततुङ्ग-पयोधरालीं।
संवित् घटञ्च दधतीं कमलं कराभ्यां, कञ्जासनां भगवतीं भुवनेश्वरीं ताम्।।२।।

प्रातः स्मरामि भुवना-पदपारिजातं, रत्नौघनिर्मित-घटे घटितास्पदञ्च।
योगञ्च भोगममितं निजसेवकेभ्यो, वाञ्छाऽधिकं किल ददानमनन्तपारम्।।३।।

प्रातः स्तुवे भुवनपालनकेलिलोलां, ब्रह्मेन्द्रदेवगणवन्दित-पादपीठाम्।
बालार्कबिम्बसमशोणित-शोभिताङ्गीं, बिन्द्वात्मिकां कलितकामकलाविलासाम्।।४।।

प्रातर्भजामि भुवने तव नाम रूपं, भक्तार्तिनाशनपरं परमामृतञ्च।
ह्रीङ्कारमन्त्रमननी जननी भवानी, भद्रा विभा भयहरी भुवनेश्वरीति।।५।।

यः श्लोकपञ्चकमिदं स्मरति प्रभाते, भूतिप्रदं भयहरं भुवनाम्बिकायाः।
तस्मै ददाति भुवना सुतरां प्रसन्ना, सिद्धिं मनो स्वपदपद्मसमाश्रयञ्च।।६।।

राष्ट्रपतिसम्मानितः
श्रीविद्यसाधनापीठम्
गणेशबाग, नगवा, वाराणसी-२२१००५

प्रणति-पञ्चकम्

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथः (श्रीसीतारामकविराजः)

भुवन-केलिकला-रसिके शिवे,
झटिति झञ्झण-झङ्कृत-नूपुरे।
ध्वनिमयं भव-बीजमनश्वरम्,
जगदिदं तव शब्दमयं वपुः॥१॥

विविध-चित्र-विचित्रितमद्भुतम्,
सदसदात्मकमस्ति चिदात्मकम्।
भवति बोधमयं भजतां हृदि,
शिव शिवेति शिवेति वचोऽनिशम्॥२॥

जननि मञ्जुल-मङ्गल-मन्दिरम्,
जगदिदं जगदम्ब तवेप्सितम्।
शिव-शिवात्मक-तत्त्वमिदं परम्,
ह्यहमहो नु नतोऽस्मि नतोऽस्म्यहम्॥३॥

स्तुतिमहो किल किं तव कुर्महे,
सुरगुरोरपि वाक्पटुता कुतः।
इति विचार्य परे परमेश्वरि,
ह्यहमहो नु नतोऽस्मि नतोऽस्म्यहम्॥४॥

चिति चमत्कृतिचिन्तनमस्तु मे,
निजपरं भवभेद-निकृन्तनम्।
प्रतिपलं शिवशक्तिमयं शिवे,
ह्यहमहो नु नतोऽस्मि नतोऽस्म्यहम्॥५॥

राष्ट्रपतिसम्मानितः
श्रीविद्यासाधनापीठम्
वाराणसी।

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

शिवसायुज्यङ्गत दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (श्री सीताराम कविराज)

'सर्वं शाक्तमजीजनत्' इस वेद-वाक्य के अनुसार समस्त विश्व ही शक्ति से उत्पन्न है। शक्ति के द्वारा ही अनन्त ब्रह्माण्डों का पालन, पोषण और संहारादि होता है। ब्रह्मा, शङ्कर, विष्णु, अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देव भी उसी शक्ति से सम्पन्न होकर स्वकार्य करने में सक्षम होते हैं। प्रत्यक्ष रूप से सब कार्यों की कारणरूपा भगवती है—

शक्तिः करोति ब्रह्माण्डं सा वै पालयतेऽखिलम्।
इच्छया संहरत्येषा जगदेतच्चराचरम्।।
न विष्णुर्न हरः शक्रो न ब्रह्मा न च पावकः।
न सूर्यो वरुणः शक्तः स्वे स्वे कार्ये कथञ्चन।।
तया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः।
कारणं सैव कार्येषु प्रत्यक्षेणावगम्यते।। — *देवीभागवत*

अतः समस्त साधनाओं का मूलभूत शक्ति उपासना का क्रम आदिकाल से चला आ रहा है। स्वर्गादिनिवासी देवगण एवं ब्रह्मविद् वरिष्ठ ऋषि-महर्षियों ने भी शक्ति उपासना के बल से अनेक लोक-कल्याणकारी विलक्षण कार्य किये हैं। निगम-आगम, स्मृति-पुराण आदि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में शक्ति-उपासना की विविध विद्याएँ प्रचुर रूप से उपलब्ध हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान है श्रीविद्या साधना का। भारतवर्ष की यह परम रहस्यमयी सर्वोत्कृष्ट साधना प्रणाली मानी जाती है। ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म आदि समस्त साधना प्रणालियों का समुच्चय ही श्रीविद्या है। ईश्वर के निःश्वासभूत होने से वेदों की प्रामाणिकता है, तो शिवप्रोक्त होने से आगमशास्त्र 'तन्त्र' की भी प्रामाणिकता है। अतः सूत्ररूप से वेदों में एवं विशद रूप से तन्त्रशास्त्रों में श्रीविद्या साधना के क्रम का विवेचन है। शिवप्रोक्त चौंसठ वाममार्गीय तन्त्रों में ऐहिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए विविध साधनाओं का वर्णन है। श्रीविद्या धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों सहित परम पुरुषार्थ मोक्ष को भी देने वाली है।

श्रीविद्या का स्वरूप

सांसारिक सकल कामनाओं के साधक चतुःषष्टितन्त्रों का प्रतिपादन कर देने के बाद पराम्बा भगवती पार्वती ने भूतभावन विश्वनाथ से पूछा—'भगवन्! इन तन्त्रों की साधना से जीव के आधि-व्याधि, शोक-सन्ताप, दीनता-हीनता आदि क्लेश तो दूर हो जाएंगे, किन्तु गर्भवास और मरण के असह्य दुःखों की निवृत्ति तो इनसे नहीं होगी। कृपा करके इस दुःख की निवृत्ति या मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति का भी कोई उपाय बताइये।'

परम कल्याणमयी पुत्रवत्सला पराम्बा के साग्रह अनुरोध पर भगवान् शङ्कर ने इस श्रीविद्या साधना प्रणाली का प्राकट्य किया। इसी प्रसङ्ग को आचार्य शङ्कर भगवत्पाद सौन्दर्यलहरी में इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं,
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना,
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।। — *सौन्दर्यलहरी* ३१

'पशुपति भगवान् शङ्कर वाममार्ग के चौंसठ तन्त्रों के द्वारा साधकों की जो-जो स्वाभिमत सिद्धि हैं, उन सबका वर्णन कर शान्त हो गये। फिर भी भगवती! आपके निर्बन्ध अर्थात् आग्रह पर उन्होंने सकल पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को प्रदान करने वाले इस श्रीविद्या साधना तन्त्र का प्राकट्य किया।'

शङ्कराचार्य *सौन्दर्यलहरी* में मन्त्र, यन्त्र आदि साधना प्रणाली का वर्णन करते हुए इस श्रीविद्या साधना की फलश्रुति लिखते हैं—

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नो विहरते
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा।
चिरं जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्।। — *सौन्दर्यलहरी* ९९

'देवि ललिते! आपका भजन करने वाला साधक विद्याओं के ज्ञान से विद्यापतित्व एवं धनाढ्यता से लक्ष्मीपतित्व को प्राप्त कर ब्रह्मा एवं विष्णु के लिए 'सपत्न' अर्थात् अपरपति प्रयुक्त असूया का जनक हो जाता है। वह अपने सौन्दर्यशाली शरीर से रतिपति काम को भी तिरस्कृत करता है एवं चिरञ्जीवी होकर पशु-पाशों से मुक्त जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होकर 'परानन्द' नामक रस का पान करता है।'

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने *सौन्दर्यलहरी* में स्तुतिव्याज से श्रीविद्या साधना का सार सर्वस्व बता दिया है और श्रीविद्या के पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के एक-एक अक्षर पर बीस नामों वाले ब्रह्माण्डपुराणोक्त *ललिता-त्रिशती* स्तोत्र पर भाष्य लिखकर अपने चारों मठों में श्रीयन्त्र द्वारा श्रीविद्या साधना का परिष्कृत क्रम प्रारम्भ कर दिया है। जन्म-जन्मान्तरीय पुण्य पुञ्ज के उदय होने से यदि किसी को गुरु कृपा से इस साधना का क्रम प्राप्त हो जाए और वह सम्प्रदाय पुरस्सर साधना करे तो कृतकृत्य हो जाता है, उसके समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं और वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। लोक में इस विद्या के सामान्य ज्ञान वाले कुछ साधक तो सुलभ हैं, पर विशेष ज्ञाता अत्यन्त दुर्लभ हैं। कारण, यह अत्यन्त रहस्यमयी गुप्त विद्या है और शास्त्रों ने इसे सर्वथा गुप्त रखने का निर्देश किया है। *ब्रह्माण्डपुराण* में लिखा है—

राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोडशाक्षरी। — *ललितात्रिशती*, १०

राज्य दिया जा सकता है, सिर भी समर्पित किया जा सकता है, परन्तु श्रीविद्या का षोडशाक्षरी मन्त्र कभी नहीं दिया जा सकता।

तब प्रश्न होगा कि फिर यह संसार को कैसे प्राप्त हुआ! तो *नित्याषोडशिकार्णव* कहता है—

कर्णात् कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतले। ६.३

'यह विद्या कर्ण परम्परा से अर्थात् गुरु परम्परा से भूतल पर आयी।' उपनिषद्-वाक्यों का उपबृंहण करते हुए *आत्मपुराण* में लिखा है—

ब्रह्मविद्याऽतिसंखिन्ना ब्रह्मनिष्ठं ब्राह्मणं ययौ।
वाराङ्गनासमां मां हि मा कृथाः सर्वसेविताम्।।
गोपाय मां सदैव त्वं कुलजामिव योषिताम्।
शेवधिस्त्वक्षयस्तेऽहमिह लोके परत्र च।। — *नित्याषोडशिकार्णव, पृ. २००*

अर्थात् ब्रह्मविद्या अतिखिन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण के पास गयी और बोली कि 'तुम मुझे वेश्या की तरह सर्वभोग्य मत बनाओ, अपितु कुलवधू की तरह मेरी रक्षा करो। मैं इस लोक और परलोक के लिए तुम्हारा अक्षयकोश हूँ।'

इसके आगे यह विद्या किसे नहीं देनी चाहिए और किसे देनी चाहिए, यह भी बताया गया है—

निन्दा गुणवतां तद्वत् सर्वदार्जवशून्यता।
इन्द्रियाधीनता नित्यं स्त्रीसङ्गश्चाविनीतता।।
कर्मणा मनसा वाचा गुरौ भक्तिविवर्जनम्।
एवमाद्या येषु दोषास्तेभ्यो वर्जय मां सदा।।
एवं हि कुर्वतो नित्यं कामधेनुरिवास्मि ते।
वन्ध्यान्यथा भविष्यामि लतेव फलवर्जिता।।

अर्थात् 'गुणवानों की निरन्तर निन्दा करना, आर्जवशून्यता, इन्द्रियों का दासत्व, नित्य स्त्रीप्रसङ्ग और उद्दण्डता तथा मन, वाणी, कर्म से गुरु के प्रति भक्तिहीनता आदि ऐसे दोष जिनमें वर्तमान हों उनसे सदा मेरी रक्षा करना। सावधानी से ऐसा करते रहोगे तो मैं कामधेनु की तरह तुम्हारे सर्व मनोरथों को पूर्ण करने वाली होऊंगी। ऐसा न करने पर फलों से रहित लता की तरह मैं वन्ध्या हो जाऊँगी।'

नित्याषोडशिकार्णव में भी कहा गया है—

न देयं परशिष्येभ्यो नास्तिकानां न चेश्वरि।
न शुश्रूषालसानां च नैवानर्थप्रदायिनाम्।। ६.४

'पराये गुरु के शिष्यों को, नास्तिकों को, सुनने की अनिच्छा वालों को, गुरु सेवा में आलसी को एवं अनर्थ बढ़ाने वाले को यह विद्या कभी नहीं देना चाहिए।' यही नहीं, यदि लोभ-मोह से ऐसे व्यक्ति को कोई इसका उपदेश देता है तो वह उपदेष्टा गुरु उस शिष्य के पापों से लिप्त होता है—

तस्मादेवंविधं शिष्यं न गृह्णीयात् कथञ्चन।
यदि गृह्णाति मोहेन तत्पापैर्व्याप्यते गुरुः॥ — *नित्याषोडशिकार्णव*, पृ. २०१

उपर्युक्त दोषों से रहित और शम, दम, तितिक्षा आदि गुणों से युक्त साधक को ही श्रीविद्या प्रदान करनी चाहिए। ऐसे अधिकारी को भी एक वर्ष तक परीक्षा करके ही श्रीविद्या का उपदेश देना चाहिए, जैसा कि कहा है—

परीक्षिताय दातव्यं वत्सरोर्ध्वोषिताय च।
एतज्ज्ञात्वा वरारोहे सद्यः खेचरतां व्रजेत्॥ — *नित्याषोडशिकार्णव* ६.५

श्रीविद्या के तीन रूप हैं—१. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. पर। तीनों का तो इस सीमित लेख में आवश्यक विवेचन सम्भव नहीं है, अतः यहाँ विशेष रूप से इसके स्थूल रूप के निरूपण का प्रयास किया जा रहा है। जहाँ स्थूल रूप श्रीचक्रार्चन और सूक्ष्म रूप श्रीविद्या मन्त्र है, वहीं पररूप विद्या देह में श्रीचक्र की भावना की विधि है। आचार्य शङ्कर के मतानुसार चौंसठ तन्त्रों का व्याख्यान करने के अनन्तर पराम्बा के निर्बन्ध से श्रीविद्या का व्याख्यान भगवान् सदाशिव ने किया, अतः यह ६५वाँ तन्त्र है। आचार्यों ने *वामकेश्वर तन्त्र* को जिसमें *नित्याषोडशिकार्णव* तथा *योगिनीहृदय* दो चतुश्शती हैं, यही श्रीविद्या का पूर्ण रूप से विधान करने वाला ६५वाँ (मतान्तर से ७८वाँ) तन्त्र माना है, अतः उसी के अनुसार यहाँ सर्वसुलभ भावभाषा में इस विषय पर प्रकाश डाला जा रहा है।

श्रीयन्त्र का स्वरूप

श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः श्रीयन्त्र शिव-शिवा का विग्रह है। **एक ज्योतिरभूद् द्विधा** सृष्टि के प्रारम्भ में अद्वैत तत्त्व प्रकाश स्वरूप एक ज्योति ही दो रूपों में परिणत हुई। यह जगत् **जनकजननीमज्जगदिदम्** माता-पिता शिव-शक्ति के रूप में परिणत हुआ। फिर इस जगत् का स्वेच्छा से निर्माण करने के लिए उस परम शक्ति में स्फुरण हुआ और सर्वप्रथम श्रीयन्त्र का आविर्भाव हुआ—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः॥ — *नित्याषोडशिकार्णव* ९.१०

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्मन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः॥

बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार-बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल, षोडशदल, वृत्तत्रय, भूपुर—इन नवयोन्यात्मक समस्त ब्रह्माण्ड का नियामक रेखात्मक श्रीयन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ।

वैन्दवं चक्रमेतस्य त्रिरूपत्वं पुनर्भवेत्।
धर्माधर्मौ तथात्मानः मातृमेयौ तथा प्रमा।।
नवयोन्यात्मकमिदं चिदानन्दघन महत्। — *नित्याषोडशिकार्णव* ६.१२-१३

सर्वप्रथम बिन्दु के तीन रूप हुए—धर्म-अधर्म, चार आत्मा, मातृ-मेय और प्रमा त्रिपुटी। धर्म और अधर्म—दो, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा—चार, मातृ, मेय, प्रमा—ये तीन इस प्रकार नौ हुए। त्रिकोण और अष्टकोण यही नवयोन्यात्मक श्रीचक्र है। शेष सब कोणों और दलों का इसी नव योनियों में समावेश हो जाता है। *ब्रह्माण्डपुराण* में लिखा है—

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके।।

इस मार्ग का प्रामाणिक ग्रन्थ श्रीगौडापादाचार्य विरचित *सुभगोदय स्तुति* है। शङ्कर भगवत्पाद विरचित *सौन्दर्यलहरी* में श्रीविद्या मन्त्र, यन्त्र आदि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। इसकी अनेक आचार्यों द्वारा की हुई अनेक टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। इसके सौ श्लोक सौ ग्रन्थों के समान हैं। यह भगवती की साक्षात् वाङ्मयी मूर्ति ही है। इसी के आधार पर विरचित पद्धतियाँ दक्षिण भारत और उत्तर भारत से प्रकाशित हुई हैं। इन पद्धतियों के अनुसार पूजा करने में कम-से-कम ढाई घण्टे का समय लगता है। इसकी यह विशेषता है कि इतने समय में मन इधर-उधर कहीं नहीं जा पाता। फलतः क्रमशः आणव, कार्मिक तथा मायिक मलों की शुद्धि से उपास्य तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते** इस श्रुति के अनुसार कर्मकाण्ड द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने से पर तत्त्व ज्ञान की स्थिति बनती है। इस प्रकार इस साधना की यही विशेषता है कि इससे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं।

यह एक परम कल्याणकारी सरल सुगम साधना है। **श्रेयांसि बहु विघ्नानि** के अनुसार ऐसे कल्याणकारी कार्यों में प्रायः विघ्नों की सम्भावना रहती है, इसलिए इसमें महागणपति की उपासना अनिवार्य है। जैसे राजा से मिलने के लिए पहले मन्त्री से मिलना आवश्यक है वैसे ही मातङ्गी की उपासना भी इसकी अङ्गभूत है। मातङ्गी पराम्बा राजराजेश्वरी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की मन्त्रिणी हैं। इनके 'श्यामला', 'राजमातङ्गी' आदि नाम हैं। ये भक्त के समस्त ऐहिक मनोरथ पूर्ण करती हैं। शिष्टानुग्रह और दुष्ट-निग्रह के लिए 'वार्ताली' का उपासना क्रम भी अनुष्ठेय है। ये पराम्बा की दण्डनायिका (सेनाध्यक्ष) हैं। इनके वाराही, वार्ताली, क्रोडमुखी आदि नाम हैं। ये साधक की सर्व प्रकार से रक्षा करती और शत्रुओं का दलन करती हैं। इस प्रकार इसमें गणपतिक्रम, श्रीक्रम, श्यामलाक्रम, वार्तालीक्रम, पराक्रम—ये पाँच क्रम विहित हैं।

प्रातःकाल गणपतिक्रम, पूर्वाह्ण में श्रीक्रम, अपराह्ण में श्यामलाक्रम, रात्रि में वार्तालीक्रम और उषाकाल में पराक्रम का विधान है। इन पाँच क्रमों की 'सपर्या पद्धति' भी प्रकाशित है। *श्रीविद्यारत्नाकर* में इनके मन्त्र, यन्त्र, पूजा विधान, जप आदि का साङ्गोपाङ्ग विवरण है। इस छोटे-से लेख में इनका विशद विवेचन सम्भव

नहीं है। दीक्षा काल में ही इनका गुरु द्वारा निर्देश होता है। इन क्रमों के प्रभाव से ही यह श्रीविद्या साधना भोगमोक्षप्रदायिनी कही गयी है।

इस प्रकार श्रीयन्त्र की पूजा मात्र से ही जीव शिवभाव को प्राप्त हो जाता है। योग एवं वेदान्त आदि साधनपथ सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं, क्योंकि ये अत्यन्त क्लिष्ट और चिरकाल साध्य हैं। इसके विपरीत तान्त्रिक विधि के साधन सरल, सर्वजनोपयोगी तथा शीघ्र ही अनुभूति प्रदान करने वाले हैं।

श्रीयन्त्र की पूजामात्र से आत्म ज्ञान कैसे होता है, इसका सङ्क्षिप्त परिचय देना हो तो कहा जायेगा कि समस्त साधन-सरणियों का चरम लक्ष्य है—मनोनिग्रह—मन की एकाग्रता। यदि उत्तमोत्तम साधन मार्ग भी अपनाया गया, किन्तु मन एकाग्र नहीं हुआ तो सारा प्रयास विफल है। **मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।** सांसारिक व्यवहार से लेकर निर्गुण ब्रह्मज्ञान तक मन ही कारण है। मनोयोग ही समस्त कार्य-कलापों में प्रधान है।

श्रीसदाशिवप्रोक्त आगम-साधना-सरणि में तो समस्त क्रियाएँ ही मन के एकाग्र करने के लिए बतायी गयी हैं। *श्रीमद्भागवत* में लिखा है—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्।। ११.३.४७

अर्थात् 'जो शीघ्र हृदय ग्रन्थि का भेदन चाहता है, वह तान्त्रिक विधि से केशव की आराधना करे।' 'केशव' यह उपलक्षण है, किसी भी देवता शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि की साधना करे।

'श्रीविद्या साधना' तन्त्र शास्त्रों में सर्वोच्च मानी गयी है। इसे भगवती पराम्बा के निर्बन्ध से भगवान् विश्वनाथ ने प्रकट किया है। अत: इसमें मन को एकाग्र करने की विशिष्ट क्रियाएँ समवेत की गयी हैं। देखिये, श्रीयन्त्र की पूजा में मन को किस प्रकार एकाग्र करने की विलक्षण प्रक्रिया है—

देवो भूत्वा यजेद् देवान् नादेवो देवमर्चयेत्।

देवता बनकर ही देवता का पूजन करने का शास्त्र का आदेश है। इस पूजा में सर्वप्रथम भूतशुद्धि का स्पष्ट विधान है जिसमें प्राणायाम द्वारा हृदय में स्थित पाप पुरुष का शोषण दहनपूर्णक शाम्भव-शरीर का उत्पादन कर पञ्चदश संस्कार, प्राण प्रतिष्ठा, मातृकादि न्यासों से मन्त्रमय शरीर बनाया जाता है, जिससे देव भाव की उत्पत्ति होती है। तन्त्रों में महाषोढ़ा, न्यासादि का महाफल लिखा है—**एवं न्यासे कृते देवि साक्षात् परशिवो भवेत्।** इस प्रकार स्वस्थ मन, स्वच्छ वस्त्र और सुगन्धित वस्तुओं से सुरभित वातावरण में यह पूजा की जाती है।

श्रीयन्त्र की पूजा करने के लिए कलश, सामान्यार्घ्य पात्र, विशेषार्घ्य (श्रीपात्र), शुद्धिपात्र, गुरुपात्र, आत्मपात्र आदि पूजा पात्रों का आसादन होता है।

सामान्यार्घ्य की स्थापना को ही लीजिए तो पहले पात्राधार के लिए एक मण्डल बनाया जाता है। उसका मूल मन्त्र के षडङ्ग से अर्चन होता है, फिर उस पर आधार का स्थापन होता है। इसमें अग्नि मन्त्र से अग्नि

मण्डल की भावना की जाती है एवं दस वह्नि कलाओं का पूजन होता है। तदनन्तर आधार पर सामान्यार्घ्य पात्र का स्थापन किया जाता है फिर उसमें सूर्य मन्त्र से सूर्य मण्डल की भावना कर द्वादश सूर्य कलाओं का अर्चन होता है फिर कलाओं का पूजन होता है फिर षडङ्ग अर्चन किया जाता है। इस प्रकार सामान्यार्घ्य स्थापना करने में इतना क्रिया-कलाप है। विशेषार्घ्य स्थापन में इससे भी अत्यधिक प्रपञ्च है। इस तरह पात्रों को स्थापन करने की क्रिया में ही मन को इतना समाहित किया जाता है फिर अन्तर्याग, बहिर्याग, चतु:षष्टि उपचार, श्रीचक्र में स्थित नवावरण में शताधिक शक्तियों का अर्चन, जिसमें तत्तत् शक्ति का ध्यान, पुष्पाक्षत निक्षेप एवं श्रीपात्रामृत से तर्पण, यह क्रिया एक शक्ति के अर्चन में एक साथ होनी आवश्यक है। इसमें किञ्चित् भी मन विचलित हुआ तो पूजन क्रम में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। अत: इन क्रियाओं के सम्पादन में साधक का मन बलात् एकाग्र हो जाता है।

इस प्रकार पूजा के अनवरत प्रयोग से शनै: शनै: मन का चाञ्चल्य दूर होकर वह समाहित होने लगता है। मन की यही स्थिति ध्यान एवं समाधि अवस्था की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार इसी जीवन में क्रमश: श्रीयन्त्र की यह पूजा जीवन्मुक्तावस्था एवं शिवत्व भाव की प्राप्ति का अनुपमेय अमोघ साधन है, जैसा कि कहा है—

एवेमष महाचक्रसङ्केत: परमेश्वरि।
कथितस्त्रिपुरादेव्या: जीवन्मुक्तिप्रवर्तक:।। — *नित्याषोडशिकार्णव*, ६.८६-८७

मन्त्रमहायोग

भारतीय संस्कृति के विशाल साहित्य सिन्धु के मन्थन से समुद्भूत आध्यात्मिक साधना सुधा ही अजर-अमर कर देने वाली वास्तविक सुधा है। इस पीयूष रस से परिप्लुत गम्भीर चिन्तन की परिणति का सुधा स्रोत 'योग' नाम से परिलक्षित होता है।

योग मार्ग की विविध विधाओं में मुख्यत: चार प्रकार के योगों की प्रधानता है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।

राजयोग

राजयोग को यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—इन अष्ट क्रियाओं के कारण अष्टाङ्ग राजयोग कहते हैं। इसमें यम, नियमों का पालन आवश्यक है। यह चिरकालिक साधना है। सांसारिक समस्त कार्यों को इसमें गौण करना पड़ता है। अत: सर्वसाधारण सांसारिक व्यक्ति के लिए यह दुर्लभ साधना है।

हठयोग

हठपूर्वक नेति, धौति, आसनादि के द्वारा शारीरिक क्षमता में वृद्धि होती है एवं यत्किञ्चित् स्वास्थ्य लाभ की दिशा में उपलब्धियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, मानसिक या आध्यात्मिक लाभ प्राय: सामान्य रहता है।

इसकी कठिन साधना प्रक्रियाओं का सम्पादन अनुभवी योगी गुरु के निर्देशन में किया जाना परमावश्यक है, क्योंकि किञ्चिन्मात्र भी असावधानी से विपरीत फल की आशङ्का बनी रहती है।

लययोग

योगतारावली में लययोग की साधना के सवा लाख भेद-प्रभेद वर्णित हैं। उनमें नादानुसन्धान समाधि ही मान्यतम लययोगों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसका निरन्तर अजस्र रूप से अभ्यास सापेक्ष है, न्यूनतम काल का भी व्यवधान होने से यथार्थ फल की प्राप्ति दुष्कर हो जाती है। अत: सांसारिक कर्मों में व्यावृत जनमानस के लिए यह विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होता।

मन्त्रयोग

परम शिवप्रोक्त तन्त्र आगमों की साधना विधि का नाम मन्त्रयोग है। भारतीय दर्शनों ने निगम (वेद), आगम (तन्त्र) को ही स्वत: परम प्रमाण माना है। ईश्वर के नि:श्वासभूत होने से 'वेदा: प्रमाणम्' और शिवप्रोक्त होने से 'आगमा: प्रमाणम्' इस प्रकार से कहा गया है। आगम शब्द का अर्थ है—'आगच्छति बुद्धिमारोहति यस्मादभ्युदयनि:श्रेयसोपाय: स आगम:' जिसके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी उपायों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम शब्द से निरूपित होता है। तन्त्र शब्द भी आगम अर्थ का ही वाचक है, इसका शब्दार्थ है—

तनोति विपुलानर्थास्तत्त्वमन्त्रसमाश्रितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतम्।।

मन्त्रतत्त्व का विस्तृत विवेचन एवं उसके तात्पर्यार्थ-साधना प्रक्रिया का पूर्ण रूप से विपुल प्रतिपादन करता है तथा मानव जाति का सभी प्रकार के भयों से परित्राण करता है, अत: उसकी तन्त्र संज्ञा होती है।

तन्त्रागम के विशाल साहित्य की रहस्यमयी साधना विधि का नाम ही मन्त्र योग है।

मन्त्र और मन्त्र शक्ति

मन को मननीय शक्ति प्रदान (एकाग्र) करके जप के द्वारा समस्त भयों का विनाश करके पूर्ण रक्षा करने वाले शब्दों को मन्त्र कहा जाता है—

मननात् त्रायत इति मन्त्र:, मननत्राणधर्माणो मन्त्रा:।

मन्-त्र—ये दो शब्द इसमें हैं। 'मन्' शब्द से मन को एकाग्र करना, 'त्र' शब्द से त्राण (रक्षा) करना जिनका धर्म है और जप से जो अभीष्ट फल प्रदान करे, वे मन्त्र कहे जाते हैं। जैसे वेदान्त सिद्धान्त है कि **'जीवो ब्रह्मैव नापर:'** जीव ही ब्रह्म है दूसरा नहीं। उसी प्रकार तन्त्र आगमों का सिद्धान्त है **'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्'** आनन्द ही ब्रह्म का रूप है, **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशिन्त, आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** आदि श्रुतियाँ भी इसी आगम सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं। परमानन्दघन परात्पर परमेश्वर पूर्ण ब्रह्म ने अपनी अमोघ सङ्कल्प (इच्छा) शक्ति से **'एकोऽहं बहु**

स्याम्' मैं अकेला हूँ बहुत हो जाऊँ, इस विचित्र विश्व की रचना करके इसी में प्रवेश किया **'तत् सृष्ट्वा तदनु प्राविशत्।'** इसी तरह तन्त्र आगमों के भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं। यहाँ ब्रह्म का शिव नाम से व्यपदेश किया गया है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् परमशिव संसार रूपी क्रीड़ा करने के लिए अपनी सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता शक्ति को सङ्कुचित करके मनुष्य देह का आश्रयण करता है—

मनुष्यदेहमाश्रित्य छन्नास्ते परमेश्वराः।

मनुष्य देह में प्रच्छन्न रूप से परमेश्वर ही विद्यमान है, यही गीता शास्त्र का कहना है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। ९/११

यह चराचरात्मक समस्त विश्व उसकी क्रीड़ा है, केवल लीला मात्र है **'क्रीडात्वेनाखिलं जगत्', 'लीलामात्रं तु केवलम्।'** अतः यहाँ सिद्ध होता है कि वह परम शिव अपनी सर्वज्ञता एवं सर्वकर्तृता शक्ति को सङ्कुचित करके मनुष्य देह में अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता धारण करके क्रीड़ा कर रहा है। जब वह अपनी शक्ति को सङ्कुचित करता है, तब सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि सांसारिक धर्मों से अभिभूत हो जाता है। इसी से आधि-व्याधि, शोक-सन्ताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता, अहन्ता, ममता, सङ्कल्प-विकल्प आदि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक सन्तापों से सन्तप्त दुःखित हो भय विह्वल होकर इनसे मुक्ति चाहता है। बस इसी के लिए शास्त्रों में एवं शास्त्र तत्त्वज्ञ योगीन्द्र, मुनीन्द्र, सिद्ध महात्माओं ने विविध प्रकार की साधना-उपासनाओं के विविध विधानों का प्रतिपादन किया है। श्रीशिव निर्मित तन्त्र आगम शास्त्रों में स्वात्म बोध एवं स्वरूप ज्ञान तथा सांसारिक भयङ्कर सन्तापों की निवृत्ति के लिए मन्त्र साधना को ही सर्वोत्तम मान्यता दी गयी है। तन्त्रागम के गम्भीर सिद्धान्तों के तात्त्विक एवं विवेचनात्मक ग्रन्थ *महार्थमञ्जरी* में मन्त्र स्वरूप का सुन्दर सङ्कलन किया गया है—

मननमयी निजविभवे निजसङ्कोचभये त्राणमयी।
कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः।।

सर्वज्ञता-सर्वकर्तृता शक्ति सम्पन्न अपने विभव (ऐश्वर्य) का बोध कराना तथा अल्पज्ञता एवं अल्पकर्तृता रूपी सङ्कुचित शक्ति से समुत्पन्न दीनता, हीनता, दरिद्रता आदि सांसारिक सन्तापों से मुक्त करना और कुत्सित वासनाओं के सङ्कल्प-विकल्पों का 'ग्रास' (विनाश) करके **'शिवोऽहं'** की भावना से भावित अनुभूति होना ही मन्त्र शब्द का तात्पर्यार्थ, स्वरूप या प्रयोजन है। इसी भाव को और स्पष्ट किया गया है—

मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे।
मननत्राणधर्मित्वात्तेन मन्त्रा इति स्मृताः।।

नेत्र तन्त्र में बहुत विस्तार से मन्त्र के तात्त्विक रहस्यों का विवेचन किया गया है। सात करोड़ मन्त्र शिव के मुख से विनिर्गत हुए हैं—

सप्तकोटिमहामन्त्राः शिववक्त्राद्विनिर्गताः।

वर्णमाला के **'अ'** से लेकर **'क्ष'** तक पचास अक्षरों को 'मातृका' कहते हैं। इन मातृका वर्णों से ही समस्त मन्त्रों का निर्माण हुआ है। मातृका शब्द का अर्थ है माता या जननी। अत: समस्त वाङ्मय की यह जननी है। ये समस्त मन्त्र वर्णात्मक हैं और मन्त्र शक्ति स्वरूप हैं। यह मातृका की ही शक्ति है और वह शक्ति शिव की है, अत: समस्त मन्त्र साक्षात् शिव शक्ति स्वरूप हैं। यही भगवान् शङ्कर पार्वती से कहते हैं—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।।

मन्त्र अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न होते हैं। इनके सामर्थ्य की इयत्ता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसीलिए कहा गया है **'मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता'** (*परशुरामकल्पसूत्र*), **'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधिप्रभावः'**। इन्हीं मन्त्रात्मक वर्णों से समस्त विश्व का सृजन हुआ है **'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे इति श्रुतिः'**। आगम दर्शन की मूल भित्ति शिवादि क्षिति पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों पर आधारित है। ये तत्त्व मातृका को छत्तीस अक्षरों पर आधारित हैं। इन्हीं तत्त्वों से दृश्यमान समस्त चराचरात्मक विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि होते हैं। अत: मन्त्रात्मक अक्षरों को शब्द ब्रह्म कहा जाता है। संसार का व्यवहार भी शब्दों के द्वारा ही होता है, इसलिए शब्द शक्ति सर्वोपरि मानी गयी है। भगवान् परमशिव ने इन्हीं शब्दों से चमत्कार पूर्ण समस्त अभीष्ट प्रदान करने वाले मन्त्रों की रचना करके समस्त सांसारिक जीवों पर कारुण्य पूर्ण अनुग्रह किया। इन मन्त्रों की साधना से सम्पूर्ण अभीष्टों की सिद्धि सरलता से की जा सकती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी ने भी कहा है—

मन्त्र महामनि बिषय ब्याल के।
मेटत कठिन कुअङ्क भाल के।।

यहाँ तक कि इनसे भाग्य भी बदल जाता है। इनकी साधना विधिवत् शास्त्रानुमोदित करनी चाहिए।

तन्त्रों में मन्त्रों के स्वरूप का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें तीन जातियाँ एवं चार प्रकार मुख्य हैं। इनका *शारदातिलक* तन्त्र में इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—

पुंस्त्रीनपुंसकात्मनो मन्त्राः सर्वे समीरिताः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्या स्त्री देवता स्मृता।।

पुरुष, स्त्री और नपुंसक—ये तीन जातियाँ मन्त्रों की मानी गयी हैं। मन्त्र पुरुष—देवतात्मक होते हैं एवं महाविद्या, श्रीविद्या आदि विद्याओं के मन्त्र स्त्री देवतात्मक कहे जाते हैं। इनके चार प्रकार *नित्यातन्त्र* में इस प्रकार वर्णित हैं—

मन्त्रा एकाक्षराः पिण्डाः कर्तर्यो द्व्यक्षरा मताः।
वर्णत्रयं समारभ्य नववर्णावधिबीजकाः।
ततो दशार्णमारभ्य यावद्विंशतिमन्त्रकाः।
अत ऊर्ध्वं गता मालास्तासु भेदो न विद्यते।।

एक अक्षर वाले मन्त्र की 'पिण्ड' संज्ञा है एवं दो अक्षर की 'कर्तरी', तीन अक्षर से नौ अक्षर तक के मन्त्रों को 'बीज' मन्त्र कहा जाता है, दस अक्षर से बीस अक्षर तक 'मन्त्र' नाम होता है। बीस अक्षर से अधिक संख्या वाले मन्त्रों को 'माला' मन्त्र कहते हैं।

साधक के नाम के साथ इन मन्त्रों के मित्र, शत्रु, साध्य, सिद्ध, सुसिद्ध आदि सम्बन्ध होते हैं। अत: मेलापक प्रक्रिया से विचार करके मन्त्र ग्रहण करने से ही अभीष्ट सिद्धि होती है। कामनापरक मन्त्रों का अविचारित रूप से अनुष्ठान करना विपरीत फलदायक भी हो सकता है। अत:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। *गीता* १६.२४

इस गीतोक्त वचन के अनुसार शास्त्रों के प्रमाण से कर्त्तव्याकर्तव्य निर्धारण करना आवश्यक है। अत: मन्त्र साधना तन्त्र शास्त्र प्रतिपादित विधानानुसार करने से ही ऐहिक और पारलौकिक अभीष्ट सिद्धि होती है।

तन्त्र शास्त्र में कुछ मन्त्र, विद्याएँ कलियुग में सिद्ध मानी गयी हैं, वे सबके लिए उपयोगी हैं, उनमें सिद्धारि आदि मेलापक विचार आवश्यक नहीं है।

मन्त्र साधना प्रक्रिया

तन्त्र आगम शास्त्र में वर्णित लक्षणों से युक्त गुरु से विधिवत् मन्त्र दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। उस मन्त्र को अपने इष्टदेव का स्वरूप ही मानना चाहिए। देवताओं का स्वरूप मन्त्रात्मक ही होता है—

मन्त्रा वर्णात्मका: सर्वे, सर्वे वर्णा: शिवात्मका:।

श्रीगुरु मुखारविन्द से नि:सृत मन्त्र रूप इष्टदेव को स्वकीय कर्णों के द्वारा हृदय प्रदेश में विराजमान करके निरन्तर उसकी परिचर्या में संलग्न हो जाना चाहिए। इस साधना के तीन अङ्ग मुख्य हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म।

नित्य कर्म

नित्य कर्म में प्रात: स्मरण, शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्या, पूजा, स्तोत्र पाठ आदि का विधान शास्त्र से या गुरु से सम्यक् प्रकार से जानकर उसका सम्पादन करना चाहिए। प्रात:काल से रात्रि में शयन पर्यन्त सभी क्रियाएँ विधिपूर्वक सम्पन्न होनी चाहिए। नित्य कर्मों का पालन करना मन्त्र साधक के लिए परमावश्यक है। नित्य कर्म का लोप होने से प्रत्यवाय होता है, अत: प्रायश्चित्त का विधान है। मनुष्य स्वभाव सुलभ प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोषों से यदि नित्य कर्म लोप हो जाए तो प्रायश्चित्त करना परमावश्यक है। वैदिक विधानों के अनुसार मन्त्र योग में चान्द्रायण व्रतादिकों की तरह कठोर विधान नहीं है, केवल कर्म वैगुण्य के अनुसार लाघव गौरव देखकर मूल मन्त्र जप संख्या का ही न्यूनाधिक रूप से सरल विधान है। जैसे सन्ध्या लोप होने से मूल मन्त्र का शत संख्यात्मक एक माला तथा नैमित्तिक कर्म लोप में सहस्र संख्यात्मक दस माला का विधान है।

नैमित्तिक कर्म

यह कर्म विशेष पर्वों पर किया जाता है। *परशुरामकल्पसूत्र* में पाँच मुख्य पर्व माने गये हैं। पञ्च पर्वों में विशेषार्चा हैं। रात्रि व्यापिनी, कृष्णाष्टमी, कृष्ण चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति—इन पञ्च पर्वों पर दिन में व्रत रखकर रात्रि में विशेष पूजा सामग्री से अर्चन करने का विधान है एवं गुरु का जन्म दिन, व्याप्ति दिन, स्वविद्या ग्रहण दिन, पुष्यार्क, नवरात्र आदि पर्वों पर अपनी शक्ति के अनुसार व्रतपूर्वक यथाविभव विशेष उत्सव का आयोजन करना चाहिए। इस नित्य और नैमित्तिक कर्म करने वाले साधक के सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

काम्य कर्म

काम्य कर्म उसे कहते हैं जो विशेष कामना पूर्ति के लिए किया जाता है। अपने मूल मन्त्र का पञ्चाङ्ग पुरश्चरण करने पर जब मन्त्र चैतन्य का लक्षण उत्पन्न हो जाए तो भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिए पृथक् पृथक् वस्तुओं से होम करने का विधान शास्त्रों में वर्णित है, उन उन वस्तुओं से होम करने से तत्-तत् कामनाएँ पूर्ण होती हैं। परन्तु काम्य कर्म करने का शास्त्रों में निषेध ही किया गया है—

शुभं वाप्यशुभं वापि काम्यं कर्म करोति यः।
तस्यारित्वं व्रजेन्मन्त्रस्तस्मान्न तत्परो भवेत्।। *मन्त्रमहोदधि*, २५.७३

अर्थात् शुभ या अशुभ अभिचारादि काम्य कर्म जो करता है, उसके लिए वही मन्त्र शत्रु भावापन्न हो जाता है। इसलिए काम्य कर्म में तत्पर नहीं होना चाहिए। कोई अत्यावश्यक कार्य हो तो उसके लिए कदाचित् कर लेने का विधान है। अपने मन्त्र का नित्य नैमित्तिक कर्म करने मात्र से साधक का जिसमें कल्याण निहित है, उसे मन्त्र का अधिष्ठाता देवता स्वयं सम्पादन करता रहता है। अपने इष्टदेव के सर्वात्मना-समर्पण—शरणागत होकर देवता-प्रीत्यर्थ कर्म करने के सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं, ऐसा शास्त्र में लिखा है—

निष्कामो देवतां नित्यं योऽर्चयेद् भक्तिनिर्भरः।
तामेव चिन्तयन्नास्ते यथाशक्ति मनुं जपन्।।
सैव तस्यैहिकं भारं वहेन्मुक्तिं च साधयेत्।
सदा सन्निहिता तस्य सर्वं च कथयेत् सा।।
वात्सल्यसहिता धेनुर्यथा वत्समनुव्रजेत्।
तथानुगच्छेत् सा देवी स्वं भक्तं शरणागतम्।।

निष्काम भक्ति भाव सहित जो इष्ट देवता का अर्चन करता है और निरन्तर उसका ही चिन्तन करता हुआ यथाशक्ति मन्त्र का जप करता है, उसके सांसारिक जितने कार्य हैं, उन सबका वहन भगवती स्वयं करती हैं और अन्त में मोक्ष प्रदान भी कर देती हैं। इतना ही नहीं, सदा उसके सन्निहित रहती हैं और सब कुछ बताती रहती हैं। वात्सल्य भाव से युक्त होकर जैसे धेनु अपने बछड़े के पीछे रहती है, उसी तरह वह वात्सल्यमयी माता भगवती शरणागत भक्त के कल्याण करने में निरन्तर तत्पर रहती है। इसलिए *गीता* में भी लिखा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। — २/४०

निष्काम कर्म करने वाले का कभी क्रम भङ्ग नहीं होता और कोई निषिद्ध कर्म की सम्भावना भी नहीं रहती। निष्काम कर्म का स्वल्प रूप आचरण करने से महाभय से परित्राण होता है। अतः मन्त्र चैतन्य के लिए पुरश्चरणादि अनुष्ठान के बाद मन्त्र सिद्धि हो जाने पर ऐहिक और पारलौकिक समस्त कार्य स्वयं सिद्ध होते रहते हैं।

मन्त्र सिद्धि के लिए पञ्चाङ्ग पुरश्चरण अत्यावश्यक हैं एवं अन्य प्रकार से ग्रहण आदि में सङ्क्षेप पुरश्चरणों का भी शास्त्रों में विधान किया गया है तथा औषधियों आदि के प्रयोग से भी सरलता से मन्त्र सिद्धि हो जाती है। पुरश्चरण नहीं करने से मन्त्र सिद्धिप्रद नहीं होता, लिखा है—

जीवहीनो यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः।
पुरश्चरणहीनोऽपि तथा मन्त्रो न सिद्धिदः।।

जैसे जीवहीन देह कोई कर्म करने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही पुरश्चरण के बिना मन्त्र सिद्धिदायक नहीं होता, अतः भोग एवं मोक्ष दोनों चाहने वाले साधक को पुरश्चरण करना अनिवार्य है। कुछ महाविद्याएँ श्रीविद्या आदि में पुरश्चरण आवश्यक नहीं है। क्योंकि ये विद्याएँ मोक्ष प्रधान होती हैं, भोगों की इनमें अप्रधानता होती है '**भोगा भवन्ति चेद् भवन्तु मा भवन्ति मा भवन्तु**'। भोगों की प्राप्ति होनी ठीक है, न हो तो उनके लिए विशेष अभिलाषा नहीं होती। वैराग्यवान् साधक इन महाविद्याओं का अनुष्ठान मोक्षैक मात्र प्राप्ति के लिए करते हैं। अन्य मन्त्रों का पुरश्चरण तो परमावश्यक है। पुरश्चरण करने पर भी मन्त्र सिद्धि के लक्षण उत्पन्न न हों तो द्रावण बोधनादि मन्त्र के संस्कार करने चाहिए। इनसे मन्त्र सिद्धि देने वाला हो जाता है।

द्रावणं बोधनं वश्यं पीडनं पोषशोषणम्।
दाहनं च बुधः कुर्यात्ततः सिद्धो भवेन्मनुः।।

इन संस्कारों के करने पर भी यदि मन्त्र सिद्धि न हो तो उस मन्त्र का परित्याग कर देना चाहिए, ऐसा शास्त्रों का मत है। महाविद्याओं के परित्याग का विधान नहीं है।

मन्त्र सिद्धि के लक्षण

तन्त्रान्तरों में मन्त्र सिद्धि के तीन प्रकार के लक्षण बताये गये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

उत्तम लक्षण

मनोरथानामक्लेशः सिद्धेरुत्तमलक्षणम्।
मृत्यूनां हरणं तद्वद् देवतादर्शनं तथा।। — *श्रीविद्यार्णव*, १६ (१-५), पृ. ४५०

बिना क्लेश के सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं (साधना करने वालों के शुद्ध भाव, पवित्र विचार, सत्सङ्कल्प और श्रेष्ठ मनोरथ होते हैं) अतः सिद्ध हुए मन्त्र के द्वारा सदिच्छा पूर्ण हो जाती है एवं अकाल मृत्यु का भय दूर हो जाता है। देवता के दर्शन होते हैं एवं और भी अनेक प्रकार की यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मध्यम लक्षण

ख्यातिर्वाहनभूषादिलाभः सुचिरजीवनम्।
नृपाणाङ्गनानां च वशीकरणमुत्तमम्।। — *श्रीविद्यार्णव,* १६ (६-१०)

यश, वाहन, भूषण, आरोग्य, रोगविषापहरण शक्ति, पाण्डित्य, कवित्व, वैराग्य, मुमुक्षुत्व, सर्ववश्यता, त्याग भावना, अष्टाङ्गादि योगों का अभ्यास, भोगों की नगण्य इच्छा, समस्त प्राणियों में दया भाव, सर्वज्ञतादि गुणों का उदय आदि मध्यम सिद्धि के लक्षण हैं।

अधम लक्षण

ख्याति, वाहन, भूषण आदि वैभव की प्राप्ति तथा धन, पुत्र, दारादि लोकैश्वर्य की प्राप्ति ये मन्त्र सिद्धि के अधम लक्षण हैं। यह साधक की प्रथम भूमिका है। — (*श्रीविद्यार्णव,* १६ श्वास, ११-१२)

स्वल्प सिद्धियों से सावधानी

मन्त्र योग साधन में तत्पर साधक को मन्त्र प्रभावजन्य कुछ स्वतः स्वल्प सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु वे परम सिद्धि में बाधक होती हैं। अष्टाविंशतिधा शक्तिः, नवधा तुष्टिः, अष्टधा सिद्धिः—ये तीन प्रकार के अङ्कुश परम सिद्धि के अवरोधक होते हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वाङ्कुशस्त्रिविधः।।

१. **ऊहसिद्धि**—उपदेश के बिना ही अपेक्षित अर्थ का ज्ञान होना ऊह सिद्धि कही जाती है।

२. **शब्दसिद्धि**—प्रासङ्गिक शब्द श्रवण मात्र से मुख्य अर्थ का बोध शब्द सिद्धि कही जाती है।

३. **अध्ययनसिद्धि**—गुरु के साधारण उपदेश से शास्त्रों का बोध होना अध्ययन सिद्धि है।

४-६. **त्रिविध दुःखविघातसिद्धि**—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—इन तीन प्रकार के दुःखों का विघात होना दुःख विघात सिद्धि है।

७. **सुहृत्प्राप्ति सिद्धि**—किसी विशिष्ट व्यक्ति के सम्पर्क से अर्थ प्राप्ति होना सुहृत्प्राप्ति सिद्धि है।

८. **दान सिद्धि**—विद्वान्, तपस्वी, सिद्धों के द्वारा प्राप्त अलौकिक क्रियाओं का ज्ञान दान सिद्धि है।

योगशास्त्रानुसार ये आठ सिद्धियाँ लोक में तो सिद्धि रूप हैं, परन्तु साधना मार्ग में अग्रसर होने में अवरोधक होती हैं—**ते समाधावपुसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।**

अतः इन स्वल्प सिद्धियों के जाल में न पड़कर सावधान होकर अपनी साधना को आगे बढ़ाते रहना ही मुख्य सिद्धि है। मन्त्र योग में मानसिक जप में निरन्तर संलग्न रहना ही मुख्य भूमिका है।

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

इस प्रकार मन्त्र योग में अध्यवसाय सम्पन्न साधक अनवरत साधना में संलग्न होने पर जब पूर्ण सिद्धि का अधिकारी बन जाता है, तब उसका मध्यम धाम में प्रवेश होता है।

मध्यम धाम प्रवेश

इस समय साधक का चित्त ही मन्त्र बन जाता है। प्रारम्भिक साधना काल में वाचिक, उपांशु, मानसिक जप की स्थिति रहती है। इस अवस्था में चित्त ही मन्त्र हो जाता है—**'चित्तं मन्त्रः।'** *शिवसूत्र* में इसका विशद् विवेचन है। इस अवस्था में मानसिक जप से ऊपर उठकर स्वयं अपने आप चैतन्य सत्ता से सम्पर्क से चित्त में जप होने लग जाता है। अब साधक को नाना प्रकार के चमत्कारिक अनुभव होते हैं और उस अद्वैत तत्त्व की गन्ध आने लग जाती है। **'शिवोऽहं'** की भावना विकासोन्मुख होने लगती है। यह सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व शिवत्व प्राप्ति का द्वार है—**शैवीमुखमिहोच्यते**। अपना लक्ष्य सामने दिखायी देने लग जाता है। द्वार में प्रवेश करने के बाद जैसे भवन के अन्तराल में जाने का मार्ग सुगम हो जाता है, वैसे ही शिवत्व प्राप्ति की सिद्धावस्था भी सुलभ हो जाती है। तन्त्रशास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज जी ने भी अपने तन्त्रशास्त्र सम्बन्धी प्रायः समस्त निबन्धों में इस स्थिति का बहुधा उल्लेख किया है। तन्त्रागम साहित्य में भी विविध प्रकार से विस्तृत विवेचन मिलता है।

शिवत्व प्राप्ति

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्।।
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः।। — *स्पन्दकारिका* २६-२७

पूर्वोक्त स्थिति प्राप्त होने पर सर्वज्ञतादि बल से युक्त मन्त्र साधक के अधिकार में आ जाते हैं, जैसे देहधारी अपने करचरणादि इन्द्रियों का स्वेच्छा से सञ्चालन कर सकता है, उसी प्रकार मन्त्र भी उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने लग जाते हैं, इस प्रकार चित्त में मन्त्र का निरन्तर मनन करते रहने से वे शान्त रूप निरञ्जन शिवधर्मी मन्त्र साधक को शिवत्व प्रदान करके आराधक के चित्त के साथ वहीं पर लीन हो जाते हैं।

मन्त्र महायोग

साधना करने वालों की तीन प्रकार की स्थितियों का विभिन्न तन्त्र आगमों में विस्तृत विवेचन उपलबध होता है। यथा साधक, सिद्धि, सिद्ध। इन्हीं का रूप द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत एवं भेद, भेदाभेद, अभेद है। प्रारम्भ में साधक का द्वैत भाव भेद भाव रहता है, जैसे पूज्य और पूजक, मैं पूजा करने वाला हूँ और इष्टदेव पूज्य हैं। इसी को द्वैत भाव कहते हैं। तदनन्तर पूर्वोक्त साधना के अनुसार सिद्धि लाभ करता है और तब मानसिक पूजा जिसे अन्तर्याग कहते हैं, साधक इसमें एकनिष्ठ हो जाता है। अब उसे बाहर में इष्ट देवता का पूजन गौण हो जाता है और पूजा में समर्पण की जाने वाली सभी सामग्री हृदय स्थित देवता को मानसिक कल्पना के द्वारा समर्पण करता है। यही द्वैताद्वैत—भेदाभेद की स्थिति है। इस स्थिति में लौकिक वैभव की कामनाओं के प्रलोभन में न पड़कर उस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए जागरूक होकर दृढ़ निष्ठा, अदम्य उत्साह से अनवरत

अभ्यास से भावना दार्ढ्य की स्थिति को प्राप्त कर लेंता है और इसी समय कुण्डलिनी के जागरण का अनुभव एवं षट्चक्र भेदन होता है तथा आज्ञाचक्र स्थित तृतीय नेत्र खुल जाता है। अब मन्त्र साधक '**शिवोऽहं**' की भावना से भावित हो जाता है और उसमें अन्तःकरण तदाकाराकारित होकर सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व आदि लक्षण प्रस्फुटित होने लगते हैं, इसी को शिवत्व प्राप्ति कहते हैं, जैसा कि इस सूत्र में वर्णित है '**शिवतुल्यो जायते**'। यही सिद्धावस्था है, इसे ही अद्वैत सिद्धि या अभेद भाव कहते हैं।

स्वच्छन्द तन्त्र, मृगेन्द्रागम, मालिनी विजयोत्तर, त्रैपुरसिद्धान्त, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, त्रिकमत, प्रत्यभिज्ञा दर्शन आदि ग्रन्थों में इसके विभिन्न रूप—मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर; पशुप्रमाता, प्रमाता, पतिप्रमाता; चित्त, चिति, चैतन्य; सकल, विज्ञानाकल, प्रलयाकल; नर, शक्ति, शिव; इदन्ता, अहन्ता, पूर्णाहन्ता; आणव, शाक्त, शाम्भव आदि मन्त्रयोग की त्रिपुटी के सूक्ष्म-सूक्ष्मतम रहस्यों का विस्तृत विवेचन समुपलब्ध होता है। इन समस्त तन्त्र शास्त्रों का लक्ष्य एक ही है। केवल साधना सरणि में कुछ प्रकारान्तर परिलक्षित होता है। कुछ तन्त्रों में विस्तार और कुछ में सामान्य संग्रह है, इसलिए एक तन्त्र की पद्धति का आश्रय लेकर साधना करने से अन्य तन्त्रों में विहित जो क्रियाएँ हैं, वे भी समस्त पूर्ण हो जाती हैं। गुरु बोधित मार्ग ही सर्वथा अनुकरणीय है—

क्वचित्तन्त्रेषु विस्तारः क्वचित्तन्त्रेषु संग्रहः।
एकं तन्त्रं समाश्रित्य सम्यक् कर्मकृतं तथा।।
सर्वं तेन कृतं राम एतश्च गुरुमार्गतः। — *त्रिपुरारहस्य*

मन्त्र साधना की अनुभूतिपूर्वक इस क्रमिक विकास से इसी जन्म में ही जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः। — *स्पन्दकारिका*

चिदानन्दलाभे देहादिषु चैत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः। इस प्रकार से *परात्रिंशिकाशक्तिसूत्र* आदि ग्रन्थों में जीवन्मुक्ति का विशेष रूप से वर्णन है, क्योंकि तन्त्र-आगमों में जीवन्मुक्ति मोक्ष रूप में मानी गयी है।

मन्त्रयोग का परम आदर्श

करुणामयी, कल्याणमयी पराम्बा भगवती श्रीजगज्जननी श्रीललिता त्रिपुरसुन्दरी से जीवों के आधि-व्याधि, शोक-सन्ताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता आदि दुःख को दूर करने के लिए प्रार्थना करने पर समस्त विद्याओं के अधिपति, सम्पूर्ण प्राणियों के स्वामी भगवान् परमशिव ने तन्त्र आगमशास्त्र को प्रकट किया, इसमें मन्त्रशक्ति की प्रधानता है। इसके द्वारा साधक अपने वाञ्छित कामनाओं को स्वल्प काल में ही प्राप्त कर सकता है।

वैदिक याग और उपनिषदों की विद्याओं के साथ तान्त्रिक याग एवं विद्याओं की समानता परिलक्षित होती है। केवल प्रक्रियागत भेद ही भासित होता है। मूलतः कोई भेद नहीं है। विशेषकर कलियुग में तन्त्र विधानानुसार साधना करने से शीघ्र सिद्धि होती है। इन तन्त्र-शास्त्रों में वाम और दक्षिण दो मार्ग है। वाम मार्ग में पञ्चमकारों का विधान है। इसका कोई धीर-वीर इन्द्रियों पर संयम रखने वाला ही अधिकारी होता है।

किञ्चित् भी असावधानी होने से पतन हो जाता है। सिद्धियों के प्रलोभन से इस मार्ग में प्रवृत्त होना भयप्रद है। दक्षिण मार्ग निर्भय एवं निष्कण्टक है। भगवान् आद्य शङ्कराचार्य ने भी दक्षिण मार्ग का ही समर्थन करके *सौन्दर्यलहरी, प्रपञ्चसारतन्त्र* आदि ग्रन्थों की रचना की है और वर्तमान में तन्त्र मार्ग में शाङ्कर सम्प्रदाय ही अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। उच्च कोटि के तन्त्रविदों का प्रधान उद्देश्य अद्वैत तत्त्व की प्राप्ति ही है। अद्वैत सिद्धि मन्त्रयोग से शीघ्र प्राप्त होती है, इसीलिए अद्वैतमत के आचार्य शङ्कर ने इसका प्रचार-प्रसार किया।

वर्तमान में प्रचलित प्राय: सभी यज्ञानुष्ठान पद्धतियाँ तन्त्रशास्त्र से अनुप्राणित हैं। तन्त्रों में स्त्री, शूद्र आदि भी साधना के अधिकारी माने गये हैं। इसमें जाति और धर्म पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। साधना की प्रवृत्ति वाले सभी समुदाय के लोगों के लिए इसका द्वार खुला है। स्त्री जाति के लिए तो विशेष सुविधा प्रदान की गयी है। साधना में सरलता एवं अनुभूति होना तन्त्रशास्त्र की अपनी विशेषता है। मन्त्रयोग के साधकों का जीवन मन्त्रमय हो जाता है। सभी कार्य उनके मन्त्रपूर्वक होते हैं। इससे शनै: शनै: साधक में दिव्य गुणों का सञ्चार होने लगता है। पाशविक प्रवृत्तियाँ नष्ट होने लगती है। सदाचार और सद्विचार के द्वारा आनन्दमय आदर्श जीवन यात्रा सम्पन्न होती है।

श्रीविद्या मन्त्र

श्रीविद्या मन्त्र श्रीयन्त्र की पूजा का अभिन्न अङ्ग है। मन्त्र के चार रूप हैं—बाला त्रिपुरसुन्दरी, त्र्यक्षरी, पञ्चदशाक्षरी, षोडशी एवं महाषोडशी फिर इनके अनेक अवान्तर भेद हैं। इनमें कादि और हादि दो मुख्य भेद प्रचलित हैं। कादि मन्त्र की उपासना परम्परा अत्यन्त विशाल है। आचार्य शङ्कर ने भी '*त्रिशती*' पर भाष्य लिखकर कादि मन्त्र को ही विशेष महत्त्व दिया है। इसे सत्तर करोड़ मन्त्रों का सार माना जाता है।

वर्णमाला के पचास अक्षर हैं। इन्हीं पचास अक्षरों से समस्त वेदादि-शास्त्र एवं समस्त मन्त्र विद्या ओत-प्रोत हैं। इस वर्णमाला का नाम **'मातृका'** है। यह समस्त वाङ्मय एवं विश्व की प्रसवित्री है। *नित्यषोडशिकार्णव* की मातृका स्तुति में सर्वप्रथम मङ्गलाचरण के रूप में इसी का उल्लेख है। कहा है कि जिसके अक्षर रूप महासूत्र में ये तीनों जगत् स्थूल, सूक्ष्म, समस्त परब्रह्माण्ड अनुस्यूत है, उस सिद्ध मातृका को हम प्रणाम करते हैं—

यदक्षरमहासूत्रप्रोतमेतज्जगत्त्रयम्।
ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं तां वन्दे सिद्धमातृकाम्।। — *नित्यषोडशिकार्णव* १.५

भगवान् सदाशिव ने मातृका के सारसर्वस्व से अचिन्त्य, अनन्त, अप्रमेय, महाप्रभावशाली महामन्त्र का प्राकट्य किया है। *योगिनीहृदय* ने इसे जगत् के माता-पिता, शिव-शक्ति के सामरस्य से समुद्भूत माना है—

शिवशक्तिसमायोगाज्जनितो मन्त्रराजक:। — *नित्यषोडशिकार्णव*, ७.१७

वेदविद्या के मन्त्र प्रकट हैं जबकि श्रीविद्यामन्त्र गुप्त है। श्रीविद्या का मन्त्र सम्प्रदाय पुरस्सर गुरु परम्परा के द्वारा प्राप्त करने से ही इसके रहस्य का ज्ञान हो सकता है। इस मन्त्र के अनेक आकार-प्रकार हैं। इसके छ:

प्रकार के अर्थ हैं—भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगमार्थ, कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ। यह सब गुरु परम्परा के द्वारा ही लभ्य है। *योगिनीहृदय* में यह कहा गया है—

मन्त्रसङ्केतकस्तस्या नानाकारो व्यवस्थितः।
नानामन्त्रक्रमेणैव पारम्पर्येण लभ्यते।। — *नित्याषोडशिकार्णव* ७.१४

इस मन्त्र के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान परम्परा से साधना करने वालों को ही होता है। यदि कोई पुस्तक में पढ़कर या अन्य छल-छिद्रों से इस मन्त्र को प्राप्त करता और अपने ज्ञान के गर्व से मनमाने ढङ्ग से जपता है तो लाभ की जगह हानि ही होती है, जैसा कि कहा है—

पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः।। — *नित्याषोडशिकार्णव*, ७.८१

अतः गुरु परम्परा से प्राप्त इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करने से उत्तमोत्तम फल प्राप्त होते हैं। यह विद्या ज्ञानमात्र से भव बन्धन से छुटकारा, स्मरण से पापपुञ्ज का हरण, जप से मृत्युनाश, पूजा से दुःख दौर्भाग्य, व्याधि और दरिद्रता का विध्वंस, होम से समस्त विघ्नों का शमन, ध्यान से समस्त कार्य साधन करने वाली है।

श्रीविद्या मन्त्र में समस्त मन्त्रों का समावेश है। *योगिनीहृदय* में कहा है—

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः।। — *नित्याषोडशिकार्णव* ७.४७

'जैसे मत्स्य फँसाने के जाल के सभी तन्तु लोहे के वलय में पिरोये रहते हैं, वैसे ही इस श्रीविद्या मन्त्र में समस्त मन्त्र ओत-प्रोत हैं।' इसके समान या इससे उत्तम दूसरा मन्त्र नहीं है।

कुण्डलिनी शक्ति से इस मन्त्र का साक्षात् सम्बन्ध है। तन्त्र मार्ग की साधना का कुण्डलिनी जागरण ही प्रधान अङ्ग है। यह मन्त्र योग से ही सरलता से यथाशीघ्र सिद्ध होना सम्भव है। इसलिए शास्त्रों में इसकी महिमा और गरिमा का अत्यधिक वर्णन है। यही श्रीविद्या का सूक्ष्म रूप कहा जाता है। इससे उच्चारण और जपविधि में ही रहस्य भरा हुआ है।

तन्त्रों में महाषोडशी के मन्त्र का एक बार भी उच्चारण महाफलप्रद लिखा है—

वाक्यकोटिसहस्रेषु जिह्वाकोटिशतैरपि।
वर्णितुं नैव शक्योऽहं श्रीविद्यां षोडशाक्षरीम्।।
एकोच्चारणं देवेशि वाजपेयस्य कोटयः।
अश्वमेधसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा।।
काश्यादितीर्थयात्राः स्युः सार्धकोटित्रयान्विताः।
तुलां नार्हन्ति देवेशि नात्र कार्या विचारणा।।

स्वयं भगवान् सदाशिव पार्वती से कहते हैं कि कोटि-कोटि वाक्यों से एवं कोटि-कोटि जिह्वा से भी श्रीविद्या का मैं वर्णन नहीं कर सकता। एक बार उच्चारण मात्र से कोटि वाजपेय यज्ञ, सहस्रों अश्वमेध यज्ञ, समस्त पृथिवी को प्रदक्षिण एवं काशी आदि तीर्थों की करोड़ों बार यात्रा इस श्रीविद्या मन्त्र के समान नहीं है। देवेशि! इसमें कोई संशय नहीं।

साधक का कर्त्तव्य है कि वह स्थूल रूप श्रीचक्रार्चन, सूक्ष्म रूप श्रीमन्त्र और पर रूप शरीर को ही श्रीचक्र रूप में भावित कर कृतकृत्य हो जाए।

श्रीविद्या के पररूप की उपासना का फल *भावनोपनिषद्* ३५ में लिखा है—**एवं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति, स शिवयोगीति निगद्यते।** इस प्रकार भावना करने वाला जीवन्मुक्त होता है और वह **शिव योगी** कहा जाता है। इस *भावनोपनिषद्* की प्रयोग विधि महायाग क्रम में भास्कर राय लिखते हैं—**तस्या देवतात्मैक्यसिद्धिः, तस्य चिन्तितकार्याणि अयत्नेन सिद्ध्यन्ति** अर्थात् उस साधक का देवता का साथ तादात्म्य भाव हो जाता है और उसके चिन्तित कार्य बिना यत्न के ही सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार परम रहस्यमयी सर्वोत्कृष्ट श्रीविद्या की साधना-सरणि के यथार्थ रूप का उल्लेख सर्वथा असम्भव है। सङ्क्षेप में यही कहा जा सकता है कि इस श्रीविद्या साधना पद्धति का अनुष्ठान और प्रचार चार भगवत् अवतारों—दत्तात्रेय, श्रीपरशुराम, भगवान् हयग्रीव एवं भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य ने किया और इसे सर्वजनोपयोगी सरल बनाने में उत्तरोत्तर श्लाघनीय कार्य किया। भक्ति, ज्ञान, कर्मयोग आदि समस्त साधना मार्गों का यह समुच्चय है। जिस स्तर का साधक हो उसके लिए तदनुकूल साधना का उच्चतम एवं श्रेष्ठतम सुन्दर विधान परिलक्षित हो जाता है, अत: इसकी उपादेयता सर्वोत्तम मानी जाती है। यही साक्षात् ब्रह्म विद्या है।

भगवत्पाद आचार्य शङ्कर कहते हैं कि सरस्वती ब्रह्मा की गृहिणी हैं, विष्णु की पत्नी पद्मा, शिव की सहचरी पार्वती हैं। किन्तु आप तो कोई अनिर्वचनीया तुरीया हैं, समस्त विश्व को विवर्त करने वाली दुरधिगम निस्सीम-महिमा महामाया परब्रह्म की पट्टमहिषी पटरानी हैं—

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषी।। — *सौन्दर्यलहरी* ९२

संस्थापक सम्पादक
श्रीविद्यामन्त्रमहायोग
श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी।

शक्ति-तत्त्व-विमर्श एवं भगवती गायत्री

पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्च की अधिष्ठानभूता सच्चिदानन्दरूपा भगवती ही सम्पूर्ण विश्व को सत्ता, स्फूर्ति तथा सरसता प्रदान करती हैं। विश्वप्रपञ्च उन्हीं से उत्पन्न होता है, अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है। जैसे दर्पण में आकाशमण्डल, भूधर, सागरादि प्रपञ्च प्रतीत होता है, दर्पणको स्पर्श कर देखा जाय तो यहाँ वास्तव में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। वैसे ही सच्चिदानन्दरूप महाचिति भगवती में सम्पूर्ण विश्व भासित होता है। जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब का भान नहीं होता, दर्पण के उपलम्भ में ही प्रतिबिम्ब का उपलम्भ होता है, वैसे ही अखण्ड नित्य निर्विकार महाचिति में ही; उसके अस्तित्व में ही, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयादि विश्व उपलब्ध होता है। अधिष्ठान न होने पर भास्य के उपलम्भ की आशा नहीं की जा सकती।

सामान्यरूप से तो यह बात सर्वमान्य है कि प्रमाणाधीन ही किसी भी प्रमेय की स्थिति होती है। अतः सम्पूर्ण प्रमेय में प्रमाण कवलित ही उपलब्ध होता है। प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय-ये अन्योन्य (परस्पर) की अपेक्षा रखते हैं। प्रमाण का विषय होने से ही कोई वस्तु प्रमेय हो सकती है। प्रमेय को विषय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमाण कहला सकती है। प्रमेय विषयक प्रमाण का आश्रय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता कहलाता है। फिर भी इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति और गतिका भासक नित्य बोध आत्मा ही है और वही 'साक्षी' तथा 'ब्रह्म' भी कहलाता है।

यद्यपि 'शुद्ध ब्रह्म स्त्री, पुमान् या नपुंसक में से कुछ नहीं है, तथापि वह चिति, भगवती आदि स्त्रीवाचक शब्दों से, आत्मा, पुरुष आदि पुम्बोधक शब्दों से और ब्रह्म, ज्ञान आदि नपुंसक शब्दों से भी व्यवहृत होता है। वस्तुतः स्त्री, पुमान्, नपुंसक-इन सबसे पृथक् होने पर भी उस-उस शरीर के सम्बन्ध से या वस्तुके सम्बन्ध से वही अचिन्त्य, अव्यक्त, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द स्वरूप महाचिति भगवती आत्मा, पुरुष, ब्रह्म आदि शब्दों से व्यवहृत होती है। मायाशक्ति का आश्रयण कर वे ही त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम, गणपति, सूर्य आदि रूपों में व्यक्त होती हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप त्रिपुर (तीन भेदों) के भीतर रहनेवाली सर्वसाक्षिणी चिति ही त्रिपुरसुन्दरी कहलाती है। उसी माया-विशिष्ट तत्त्व के जैसे राम-कृष्णादि अन्यान्य अवतार होते हैं, वैसे ही महालक्ष्मी, महासरस्वती, महागौरी आदि अवतार होते हैं। यद्यपि श्रीभगवती नित्य ही हैं, तथापि देवताओं के कार्य के लिय वे समय-समय पर अनेक रूपों में प्रकट होती हैं। जगन्मूर्ति भगवती नित्य ही हैं, उन्हीं से चराचर प्रपञ्च व्याप्त है, तथापि उनकी उत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है।

देवताओं के कार्य के लिये जब प्रकट होती हैं, तब वे नित्य होने पर भी 'देवी उत्पन्न हुई, प्रकट हो गयी' यों कहीं जाती हैं–

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम।
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते।। *सप्तशती* १.६४-६६

कुल लोगों का कहना है कि 'शास्त्रों में मायारूपा भगवती की ही उपासना कही गयी है, माया वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार मिथ्या है, अतः मुक्ति में उसकी अनुगति नहीं हो सकती। अतः भगवती की उपासना अश्रद्धेय है। *'नृसिंह-तापनी'* उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है कि नारसिंही माया ही सारे प्रपञ्च की सृष्टि करती है, वही सबकी रक्षा करती और सब का संहार करती है, उसी मायाशक्ति को जानना चाहिये। जो उसे जानता है वह मृत्यु को जीत लेता है, पाप्मा को तर जाता है तथा अमृतत्व एवं महती श्री को प्राप्त करता है–

माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति, सर्वमिदं रक्षति, सर्वमिदं संहरति। तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्यात्। य एतां मायां शक्तिं वेद, स मृत्युं जयति, स पाप्मानं तरति, सोऽमृतत्वं गच्छति, महतीं श्रियमश्नुते।

देवता भी कहते हैं– आप वैष्णवी शक्ति, अनन्तवीर्या एवं विश्व की बीजभूता माया हैं–

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया। –*सप्तशती* ११.५

इस सभी वचनों से स्पष्ट है कि भगवती मायारूपा ही हैं। देवीभागवतादि के अनुरूप माया स्वयं जड़ा है। इसी माया की उपासना का यत्र-तत्र स्थानों में विधान है, जो अश्रद्धेय ही है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इनका भाव दूसरा है और निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है कि देवी साक्षात् ब्रह्मरूपिणी ही है—

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवी?
साब्रवीत्-अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। — *देव्यथर्वशीर्ष* १.२

'अर्थात् देवताओं ने देवी का उपस्थान (उनके निकट पहुँच) कर उनसे प्रश्न किया- 'आप कौन हैं?' देवी ने कहा- मैं ब्रह्म हूँ, मुझसे ही प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् उत्पन्न होता है।'

इसी प्रकार **'अथ ह्येषां ब्रह्मरन्ध्रे ब्रह्मरूपिणीमाप्नोति, भुवनाधीश्वरी तुर्यातीता'** *(भुवनेश्वर्युपनिषद्)* **'स्वात्मैव ललिता'** *(भावोपनिषद्)* आदि वैदिक वचनों से तुर्यातीत ब्रह्मस्वरूपा ही भगवती हैं, यह स्पष्ट है। *'त्रिपुरातापनी' 'सुन्दरीतापनी'* आदि उपनिषदों में **'परोरजसे'** आदि गायत्री के चतुर्थ चरण से प्रतिपाद्य ब्रह्म के वाचकरूप में **'ह्रीं'** बीज को बतलाया है। **'काली, तारा, उपनिषदों'** में भी ब्रह्मरूपिणी भगवती की ही उपासना प्रतिपादित है। पुराणों, संहिताओं का भी साक्ष्य देखिये— *'सूतसंहिता'* में कहा है–

अतः संसारनाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीम्।
आराधयेत् परां शक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम्।।

अर्थात् 'संसार-निवृत्ति के लिये प्रपञ्चस्फुरणशून्य, सर्वसाक्षिणी, आत्मरूपिणी पराशक्ति की ही आराधना करनी चाहिये।

परा तु सच्चिदानन्दरूपिणी जगदम्बिका।
सर्वाधिष्ठानरूपा स्याज्जगद्भ्रान्तिश्चिदात्मनि।। —*स्कन्दपुराण*

अर्थात् 'सच्चिदानन्दरूपिणी परा जगदम्बा ही विश्व की अधिष्ठानभूता हैं। उन्हीं चिदात्मस्वरूपा भगवती में ही जगत् की भ्रान्ति होती है।'

स्र्ववेदान्तवेदेषु निश्चितं ब्रह्मवादिभिः।
एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।
योगिनस्तत्प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम्।
परात् परतरं तत्त्वं शाश्वतं शिवमच्युतम्।।
अनन्तं प्रकृतौ लीनं देव्यास्तत्परमं पदम्।
शुभ्रं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं दैन्यवर्जितम्।
आत्मोपलब्धिविषयं देव्यास्तत्परमं पदम्।। — *कूर्मपुराण*

उपर्युक्त सभी वचनों से निर्विकार, अनन्त, अच्युत, निरञ्जन, निर्गुण, ब्रह्म को ही भगवती का वास्तविक स्वरूप बतलाया गया है। *देवीभागवत* में भी कहा है कि निर्गुणा और सगुणा दो प्रकार की भगवती हैं। रागिजनों के लिये सगुणा सेव्या है और विरागियों की निर्गुणा-

निर्गुणा सगुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः।।

'ब्रह्माण्डपुराण' के ललितोपाख्यान में कहा है कि चिदेकरसरूपिणी चिति ही तत्पद की लक्ष्यार्थरूप हैं-

चितिस्तत्पदलक्ष्यार्था चिदेकरसरूपिणी।

कहा जा सकता है कि 'ब्रह्मस्वरूपता के बोधक इन वचनों से भगवती के मायात्वबोधक पूर्व वचनों का विरोध होगा। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योकि वेदान्त में माया को मिथ्या कहा गया है। मिथ्या पदार्थ अधिष्ठान (अपने आश्रय) में कल्पित होता है। अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता नहीं हुआ करती। माया में अधिष्ठान की सत्ता का ही प्रवेश रहता है, अतः मायात्वरूप की उपासना से भी सत्तास्वरूप ब्रह्म की ही उपासना होगी। इस आशय से मायास्वरूप के बोधक वचनों का भी कोई विरोध नहीं होगा।

जैसे ब्रह्म की उपासना में भी केवल ब्रह्म की उपासना नहीं हो पाती, किन्तु शक्तिविशिष्ट ब्रह्म की ही उपासना होती है, क्योंकि ब्रह्म से पृथक् होकर शक्ति रह नहीं सकती और केवल ब्रह्म की उपासना हो नहीं

सकती। वैसे ही केवल माया की उपासना सम्भव नहीं। केवल माया की तो स्थिति ही नहीं बनती, फिर उपासना तो दूर की बात रही। अधिष्ठानभूत ब्रह्म से युक्त होकर ही माया रहती है, अतः भगवती की मायारूपता का वर्णन करने पर भी फलतः ब्रह्मरूपता ही सिद्ध होती है–

पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा।।

अर्थात् जैसे अग्नि में उष्णता रहती है, सूर्य में किरणें रहती हैं और चन्द्रमा में चन्द्रिका रहती हैं, वैसे ही शिव में उसकी सहज शक्ति रहती है। इस तरह विश्वस्वरूपभूता शक्ति के रूप में भगवती का वर्णन मिलता है। जैसे अग्नि में होम करने पर अग्निशक्ति में होम समझा जाता है, वैसे ही अग्निशक्ति में होम करने पर अग्नि में ही होम समझा जाता है। इसी तरह माया को भगवती कहने पर भी ब्रह्म को भगवती समझा जा सकता है। अतः भगवती की उपासना को *ललिता त्रिशतीभाष्यादि* के अनुसार सर्वत्र ब्रह्म की ही उपासना समझनी चाहिए।

जो वाक्य माया को मिथ्या प्रतिपादित करते हैं उनमें तो केवल माया का ही ग्रहण होता है, क्योंकि ब्रह्म का मिथ्यात्व ही नहीं है। वह तो त्रिकालाबाध्य, सत्स्वरूप अधिष्ठान है। फिर उपास्य माया पदार्थान्तर्गत ब्रह्मांश मोक्षदशा में भी अनुस्यूत रहेगा, अतः मुक्ति में उपास्य स्वरूप का त्याग भी नहीं होगा। 'अन्तर्यामिब्राह्मण' में पृथ्वी से लेकर मायापर्यन्त सभी पदार्थों में चेतन–सम्बन्ध से देवतात्व बतलाया गया है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** – इस श्रुति के अनुसार भी सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है। *'सूत–संहिता'* में भी कहा है–

चिन्तात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारो द्विजोत्तमाः।
अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयम्प्रभाः।।
सदाकारा सदानन्दा संसारोच्छेदकारिणी।
सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी।।

'चिन्मात्र परब्रह्म के आश्रित रहने वाली माया के शक्त्याकार में अनुप्रतिष्ट स्वयम्प्रभा, निर्विकल्पा, सदाकारा, सदानन्दा, संविद् ही शिवाभिन्न शिवस्वरूपा परमा देवी है।' अथवा भगवतीस्वरूपप्रतिपादक वाक्यों में जो माया, शक्ति, कला आदि शब्द हैं, वे सब लक्षणा से मायाविशिष्ट, कलाविशिष्ट ब्रह्म के ही बोधक समझने चाहिये। फलतः मायाविशिष्ट ब्रह्म ही 'भगवती' शब्द का अर्थ है। यह बात स्वयं सदाशिव ने भी कही है—

नाहं सुमुखि मायाया उपास्यत्वं ब्रुवे क्वचित्।
मायाधिष्ठानचैतन्यमुपास्यत्वेन कीर्तितम् ।।
मायाशक्त्यादिशब्दाश्च विशिष्टस्यैव लक्षकाः।
तस्मान्मायादिशब्दैस्तद् ब्रह्मैवोपास्यमुच्यते ।।

वहाँ एक पक्ष में केवल चैतन्य ही मायादि शब्दों से उपास्य कहा गया है। द्वितीय पक्ष में मायाविशिष्ट ब्रह्म मायादि शब्दों से कहा गया है। साकार देवताविग्रह सर्वत्र ही शक्तिविशिष्ट ब्रह्मरूप से ही उपास्य होता हैं।

भगवतीविग्रह में भी भाषण, दर्शन, अनुकम्पा आदि व्यवहार देखा जाता है। फिर उसमें जडत्वकी कल्पना किस तरह की जा सकती है?

विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिकों के स्वरूप में एक-एक गुण की प्रधानता है, जब कि माया गुणत्रय का साम्यावस्थारूप है। वह केवल शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है। मायाविशिष्ट तुरीय ब्रह्म ही भगवती की उपासना में ग्राह्य है, यह दिखलाने के लिये कहीं-कहीं भगवती को माया, प्रकृति आदि शब्दों से बोधित किया गया है। *मैत्रायणीश्रुति* में स्पष्ट कहा गया है कि तीनों गुणों की साम्यावस्थारूपा प्रकृति परब्रह्म में रहती है और मूलप्रकृति-उपलक्षित ब्रह्म शुद्ध तुरीय स्वरूप ही है। अतएव **'त्वं वैष्णवी शक्ति'** इत्यादि स्थलों में तुरीय ब्रह्मस्वरूपिणी भगवती का ही शक्तिरूप में वर्णन समझना चाहिये। इस प्रकार माया पर मुक्ति के अनन्वयी होने या अश्रद्धेय होने का कथन कथमपि लागू नहीं होगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि एक-एक गुण की अपेक्षा गुणत्रय की साम्यावस्था उत्कृष्ट है और तद्रूपा माया या प्रकृति ही जिसका स्वरूप है, उस भगवती की उपासना भी परमोकृष्ट है। अतएव कामार्थी, मोक्षार्थी सभी के लिये भगवती की उपासना परमावश्यक है। वही ब्रह्मविद्या है, वही जगज्जननी है, उसी से सारा विश्व व्याप्त है। जो उसकी पूजा नहीं करता, उसके पुण्य को माता भस्म कर देती है-

यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम् ।
भस्मीकृत्यास्य पुण्यानि निर्दहेत् परमेश्वरी।। —*वैकृतिकरहस्य ३८*

देवीभागवत के प्रथम मन्त्र में भगवती के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का संकेत मिलता है-

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।

वह भगवती सर्वचैतन्यरूपा अर्थात् सर्वात्मस्वरूपा है, सबका प्रत्यक्चैतन्य आत्मस्वरूप ब्रह्म वही है। वह स्वतः सर्वोपाधिनिरपेक्ष तथा अखण्ड बोधरूप आत्मा है। ब्रह्मविषयक शुद्ध सत्त्वान्तर्मुख वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होकर वही अनादि ब्रह्मविद्या है। एक ही शक्ति अन्तर्मुख होकर विद्यातत्त्वरूपिणी होती है, तदुपाधिक आत्मा 'तुरीय' कहलाता है। बहिर्मुख होकर वही 'अविद्या' कहलाती है। तदुपाधिक आत्मा 'प्राज्ञ' है। मायाशवल ब्रह्म ही ध्यान का विषय है, वही बुद्धिप्रेरक है। अतः वेदान्त की दृष्टि से शक्तिरूप भगवती सर्वोपाधिविनिर्मुक्त स्वप्रकाश चिति ही हैं और वे ही परब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों से लक्षित होती है।

शाक्ताद्वैत या तान्त्रिक दृष्टि में भगवती

तन्त्रों के अनुसार 'प्रकाश' ही शिव और 'विमर्श' ही शक्ति है। संहार में शिव का प्राधान्य रहता है तो सृष्टि में शक्ति का। प्रमा में इदमंश ग्राह्य है और अहमंश ग्राहक माना जाता है। भीतर वर्तमान पदार्थो का ही बाह्यरूप में अवभास होता है-

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।।

प्रकृति में सूक्ष्म रूप से सभी वस्तुएँ स्थित है। परम शिव और शक्ति दोनों ही श्लिष्ट होकर रहते हैं। निःस्पन्द परम शिवतत्त्व और निषेधात्मक तत्त्व ही शक्तितत्व है–

आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पतः।

अर्थात् ज्ञान और अर्थ (ज्ञेय) दोनों ही अविकल्पित होकर एक में रहते हैं तब साम्यावस्था समझी जाती है। भगवती के विषय में तन्त्र–दृष्टि का यह सूत्ररूप परिचय है। अब शाक्ताद्वैत में भगवती के स्वरूप का विवरणात्मक परिचय संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

शाक्ताद्वैत की दृष्टि यह है कि अनन्त विश्व का अधिष्ठानभूत शुद्ध बोधस्वरूप प्रकाश ही शिवतत्त्व समझा जाता है। उस प्रकाश में जो विमर्श है, वही शक्ति है। प्रकाश के साथ विचारात्मक शक्ति का अस्तित्त्व अनिवार्य है। बिना प्रकाश के विमर्श नहीं और बिना विमर्श के प्रकाश भी नहीं रहता। यद्यपि वेदान्तियों की दृष्टि में बिना विमर्श के भी अनन्त, निर्विकल्प प्रकाश रहता है, तथापि शाक्ताद्वैतियों की दृष्टि में विमर्श हर समय रहता है। यहाँ तक कि महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर भी आवरक अज्ञान के मिट जाने पर भी स्वयं वृत्तिरूप विमर्श बना ही रहता है। वेदान्ती इस वृत्ति को स्वपरविनाशक मानते हैं, किन्तु शाक्ताद्वैती कहते है कि अपने आप में ही नाश्य–नाशकभाव सम्भव नहीं है। यदि उस वृत्ति के नाशक के लिये दूसरी वृत्ति की उत्पत्ति मानेंगे तो उसके भी नाशक के लिये वृत्त्यन्तर मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। अविद्या स्वयं नष्ट होने वाली है, अतः उससे भी उस वृत्तिरूपा विद्या का नाश नहीं कहा जा सकता। विरोध न होने के कारण विद्या–अविद्या का सुन्दोपसुन्दन्याय से भी परस्पर नाश्य–नाशक भाव नहीं कहा जा सकता।

जो कहा जाता है कि जैसे कनकरज जल के भीतर भी मिट्टी को नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही विद्या रूपा वृत्ति स्वातिरिक्त अविद्या एवं तत्कार्य जगत् को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, किन्तु दृष्टान्त में कनकरज का नाश नहीं होता, किन्तु इतर रजों को साथ लेकर कनकरज पानी में नीचे बैठ जाता है। अतः वहाँ भी उक्त दृष्टान्तों से वृत्ति का नाश नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति **'विषं विषान्तरं जरयति, स्वयमेव जीर्यति, पयः पयोऽन्तरं जरयति, स्वयमेव च जीर्यति'** इत्यादि युक्तियों की भी है। अर्थात् वहाँ भी विष या पय नष्ट नहीं होता, प्रत्युत दूसरे पय या विष की अजीर्णता मिटाकर स्वयं भी पच जाता है। अतएव इन दृष्टान्तों से भी वृत्ति का नाश नहीं कहा जा सकता। इसलिये वृत्ति रूप विद्या से संश्लिष्ट होकर ही अनन्त प्रकाशस्वरूप शिव सदैव विराजमान रहता है।

इसी तरह यह भी विचार उठता है कि अविद्यानिवृत्ति क्या है? कोई वस्तु कहीं से निवृत्त होती हुई भी कहीं–न– कहीं रहती ही है। यदि 'ध्वंसरूप निवृत्ति' मानी जाय तो अपने कारण में उसकी स्थिति माननी

पड़ेगी, चूर्ण आदि कहीं-न-कहीं, किसी न किसी रूप में उसकी स्थिति माननी ही पड़ती है। यही स्थिति लयरूपा निवृत्ति की भी है। यदि निवृत्ति को सर्वथा निःस्वरूप कहें तो उसके लिये प्रयत्न नहीं हो सकता। सही कहें तब तो उसी रूपमें शक्ति की स्थिति रह सकती है। अनिर्वाच्य कहें तो **उसकी भी ज्ञान**निवर्त्यता माननी पड़ेगी। अतएव कुछ आचार्यो ने पञ्च प्रकारपर्वा अविद्या निवृत्ति मानी है **तथा उस रूप में भी** विमर्शरूपा शक्ति का अस्तित्व रहता ही है। हाँ, उस समय अन्तर्मुख होकर शिवरूपसे ही **शक्ति स्थित रहती है**-

मुक्तावन्तर्मुखैव त्वं भुवनेश्वरि तिष्ठसि।। — *शक्तिदर्शन*

इसीलिये शक्ति को नित्य कहा गया है- **'नित्यैव सा जगन्मूर्तिर्यया सर्वमिदं ततम्।' 'न हि द्रष्टुर्दृष्टे-र्विपरिलोपो भवति विद्यते'** (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ४) इस वचन से वृत्तिरूप दृष्टि को नित्य समझा जाता है, जब कि वेदान्ती द्रष्टाकी स्वरूपभूता दृष्टि को नित्य कहते हैं।

शिव-परात्पर

विमर्श, प्रकाश, शक्ति के शिव में प्रवेश से बिन्दु, स्त्रीतत्त्व, नाद की उत्पत्ति हुई। जब दूध पानी की तरह वे दोनों एक हो गये, तब 'संयुक्त बिन्दु' हुआ। वही 'अर्धनारीश्वर' हुआ। इनकी परस्पर आसक्ति ही काम है। श्वेत बिन्दु पुंस्त्वका तो रक्तबिन्दु स्त्रीत्व का परिचायक है। तीनों जब मिलते हैं, तब कामकला की उत्पत्ति होती है। मूल बिन्दु, नाद और श्वेत तथा रक्तबिन्दु- इन चारों के मिलने से सृष्टि होती है। किसी के मत में नाद के साथ अर्धकला भी हुई। काम-कमलादेवी का 'संयुक्त बिन्दु' वदन है, अग्नि और चन्द्र वक्षःस्थल है, अर्धकला जननेन्द्रिय है। **'अ'** शिवका प्रतीक है तो **'ह'** शक्ति का। यह त्रिपुरसुन्दरी **'अहं'** से व्याप्त है। सम्पूर्ण सृष्टि व्यक्तित्व और अहं से पूर्ण है। सहस्रार के चन्द्रगर्भ से सवित आसव का पान कर, ज्ञान-कृपाण से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आसुर पशुओं को मारकर, वञ्चना पिशुनता, ईर्ष्या-रूप मछलियों को पकाकर, आशा, कामना, निन्दारूप मुद्रा को धारण कर, मेरुदण्डाश्रिता रमणियों में रमण कर सामरस्य की प्राप्ति होती है। पञ्च मकार का भी यही रहस्य है। शिव-शक्ति का संयोग ही 'नाद' है-

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छया विश्वमिदं स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।।

शिवसंश्लिष्ट शक्ति विश्व का बीज है। अहं-प्रकाश में शिव निश्चेष्ट रहता है तो शक्ति सक्रिय रहती है। यही काली की विपरीत रति है। विमर्शरूपा शक्ति जब शिव में लीन होती है, तब 'उन्मना अवस्था' होती है, उसके विकसित होने पर 'समना अवस्था' होती है-

सच्चिदानन्दविभवात् संकल्पात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् विन्दुसमुद्भवः।।

विभव सच्चिदानन्द के संकल्प से शक्ति, उससे नाद और नाद से बिन्दु का प्राकट्य होता है। नाद में क्रिया शक्ति है, वही बिन्दु की 'अहं निमेषा' है। सृष्टि की अन्तिम अवस्था है- 'इदम्', 'अहं' महाप्रलय की पूर्वावस्था है और शक्ति की उच्छूनावस्था घनीभाव है। ज्ञानप्रधान शक्ति क्रियारूपेण रजःप्रधाना और बिन्दुतत्त्व से तमः प्रधाना रहती है। व्यवहार में शक्तिमान् की अपेक्षा शक्ति का आदर अधिक है। बुद्धि के बिना बुद्धिमान्, बल के बिना बलवान् का, शिल्पशक्ति के बिना शिल्पी का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। मिठास बिना मिसरी का, सौगन्ध के बिना पुष्पों का, सौन्दर्य के बिना सुन्दरी का, लज्जा के बिना कुलाङ्गना का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। शाक्ताद्वैत की दृष्टि से शक्ति शिवस्वरूप ही है। सच्चिदानन्द में चिद्भाव-विमर्श है, सद्भाव शिव (प्रकाश) है। कहा गया है-

रुद्रहीनं विष्णुहीनं न वदन्ति जनाः किल।
शक्तिहीनं यथा सर्वे प्रवदन्ति नराधमम् ।।

अर्थात् कोई भी प्राणी रुद्रहीन, विष्णुहीन होने से शोचनीय होता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**- बलहीन प्राणी को अपनी आत्मा भी उपलब्ध नहीं हो सकती-

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषी।। — *सौन्दर्यलहरी ४८*

इस प्रकार परब्रह्ममहिषीरूपा भगवती को आचार्यो ने तुरीया चिच्छक्तिरूपा ही बतलाया है।

शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी।
विषयी भगवानीशो विषयः परमेश्वरी ।।
मानः स एव विश्वात्मा मन्तव्या तु महेश्वरी।
आकाशः शङ्करो देवः पृथिवी शङ्करप्रिया।।

समुद्र-वेला, वृक्ष-लता, शब्द-अर्थ, पदार्थ-शक्ति, पुं-स्त्री, यज्ञ-इज्या, क्रिया-फलभुक्, गुण-व्यक्ति, व्यञ्जकता-रूप, बोध-बुद्धि, धर्म-सत्क्रिया, संतोष-तुष्टि, इच्छा-काम, यज्ञ-दक्षिणा, आज्याहुति-पुरोडाश, काष्ठा-निमेष, मुहूर्त-कला, ज्योत्स्ना-प्रदीप, रात्रि-दिन, ध्वज-पताका, तृष्णा-लोभ, रति-राग- उपर्युक्त भेदों से उसी तत्त्वका अनेकधा प्राकट्य होता है।

'शक्ति' शब्द से बहुत से लोग केवल माया-अविद्या आदि बहिरङ्ग शक्तियों को ही समझते हैं, किन्तु भगवान् की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति, जीवभूता पराप्रकृति आदि भी 'शक्ति' शब्दो से व्यवहृत होती हैं। जैसे सिता, द्राक्षा, मधु आदि में मधुरिमा उनका परम अन्तरङ्ग स्वरूप ही है, वैसे ही परमानन्दरसामृतसारसमुद्र भगवान् की परमान्तरङ्गस्वरूपभूता शक्ति ही भगवती है-

विष्णुशक्तिः परा ज्ञेया क्षेत्रेशाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।। — *विष्णुपुराण*

यहाँ विष्णु और क्षेत्रज्ञ को भी शक्ति ही कहा है। इस प्रकार यद्यपि शक्तियाँ अनेक हैं, तथापि आनन्दाश्रित आह्लादिनी, चेतनांशाश्रित संवित् सदंशाश्रित सन्धिनी शक्ति होती है। क्षेत्रज्ञ तटस्थ शक्ति है और माया बहिरङ्गा शक्ति मानी जाती है। तत्त्ववित् लोग कहते हैं कि जैसे पुष्प का सौगन्ध सम्यक् रूप से तभी अनुभूत हो सकता है, जब पुष्प को घ्राणेन्द्रिय हो। अन्य लोगों को तो व्यवधान के साथ किञ्चिन्मात्र ही गन्ध का अनुभव होता है। उसी तरह भगवती के सुन्दर रूप का सम्यक् अनुभव परम शिव को ही प्राप्त होता है। वह अन्य की दृष्टि का विषय ही नहीं-

घृतद्राक्षाक्षीरं मधुमधुरिमा कैरपि परै-
र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः
कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे।। —*आनन्दलहरी*

अर्थात् वस्तुतः निर्गुणा, सत्या सनातनी, सर्वस्वरूपा भगवती ही भक्तानुग्रहार्थ सगुण होकर प्रकट होती है। वैसे तो भगवती के अनन्त स्वरूप हैं, विशेषतः शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धिदा- ये नौ स्वरूप प्रधान हैं।

कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी।।
सर्वस्वरूपा सर्वेशी सर्वाधारा परात्परा।
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वमूला निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला।।

इस प्रकार वे ही सर्वेश्वरी चराचर में सभी स्वरूपों में व्याप्त हैं।

गायत्री-तत्त्व

किसी गायत्रीनिष्ठ सज्जन का प्रश्न है कि गायत्री मन्त्र का वास्तविक अर्थ क्या है? गायत्री मन्त्र के द्वारा किस स्वरूप से किस देवता का ध्यान किया जाय, कोई गोरूपा गायत्री का, कोई आदित्यमण्डलस्था श्वेतपद्मस्थिता देवी का ध्यान करना बतलाते हैं, कोई ब्रह्माणी, रुद्राणी, नारायणी का ध्यान बतलाता है, तो कोई राधा-कृष्ण का ध्यान समुचित मानते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि में भ्रम होता है कि गायत्री-मन्त्र का मुख्य अर्थ और ध्येय क्या है?

इस सम्बन्ध में यद्यपि शास्त्रों में बहुत कुछ विवेचन है, तथापि यहाँ संक्षेप में कुछ लिखा जाता है- *बृहदारण्यक उपनिषद्* (५/१४) में भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः- इन आठ अक्षरों को गायत्री का प्रथम पाद कहा है, **'ऋचो यजूंषि सामानि'**- इन आठ अक्षरों को गायत्री का द्वितीय पाद कहा गया है, **प्राणोऽपानो व्यानः'** इन आठ अक्षरों को गायत्री का तीसरा पाद माना गया है। इस तरह लोकात्मा, वेदात्मा एवं प्राणात्मा- ये तीनों ही गायत्री के तीन पाद हैं। परब्रह्म परमात्मा चतुर्थ पाद है।

'भूमिरन्तरिक्षम्' इन श्रुतियों पर व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि सम्पूर्ण छन्दों में गायत्रीछन्द प्रधान है, क्योंकि वही छन्दों के प्रयोक्ता गयाख्य प्राणों का रक्षक है। सम्पूर्ण छन्दों का आत्मा प्राण है, प्राण का आत्मा गायत्री है। क्षत से रक्षक होने के कारण प्राण क्षत्र है, प्राणों का रक्षण करने वाली गायत्री है। द्विजोत्तम-जन्म का हेतु भी गायत्री ही है। गायत्री के तीनों पादों की उपासना करने वालों को लोकात्मा, वेदात्मा और प्राणात्मता के सम्पूर्ण विषय उपनत होते हैं। गायत्री का चतुर्थ पाद ही 'तुरीय' शब्द से कहा जाता है। जो परोरजोजात सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करता है, वह सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष है। जैसे वह पुरुष सर्वलोकाधिपत्य की श्री एवं यश से तपता है, वैसे ही तुरीय पाद का ज्ञाता श्री और यश से दीप्त होता है।

गायत्री सम्पूर्ण वेदों की जननी है। जो गायत्री का अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदों का अर्थ है। विश्व तैजस प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ अव्याकृत, व्यष्टि-समष्टि जगत् तथा उसकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति- ये तीनों अवस्थाएँ प्रणव की- अ, उ, म् इन तीनों मात्राओं के अर्थ हैं। सर्वपालक परब्रह्म गायत्री का वाच्यार्थ, सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, सगुण, सर्वशक्ति, सर्वरहित ब्रह्म प्रणव का लक्ष्यार्थ है। उत्पादक, पालक, संहारक त्रिविध लोकात्मा भगवान् तीनों व्याहृतियों के अर्थ हैं। जगदुत्पत्ति-स्थिति- संहार-कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। तथापि गायत्री द्वारा विश्वोत्पादक, स्वप्रकाश परमात्मा के उस रमणीय चिन्मय तेज का ध्यान किया जाता है, जो समस्त बुद्धियों का प्रेरक एवं साक्षी है।

विश्वोत्पादक परमात्मा के वरेण्य गर्भ को बुद्धिप्रेरक एवं बुद्धिसाक्षी कहने से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद परिलक्षित होता है, अतः साधन-चतुष्टयसम्पन्न उत्तमाधिकारी के लिये प्रत्यक् चैतन्य भिन्न, निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्म का ही चिन्तन गायत्री-मन्त्र के द्वारा किया जाता है। अनन्त कल्याणगुणगणसम्पन्न, सगुण, निराकार, परमेश्वर की उपासना गायत्री के द्वारा की जा सकती है। प्राणिप्रसवार्थक 'षूङ्' धातु से सवितृ शब्द की निष्पत्ति होती है। यहाँ उत्पत्ति को उपलक्षण मानकर उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। इस दृष्टि से उत्पादक, पालक, संहारक विष्णु, रुद्र तथा उनकी स्वरूपभूत तीनों शक्तियों का ध्यान किया जाता है।

त्रैलोक्य, त्रैविद्य तथा प्राण जिस गायत्री के स्वरूप हैं, वह त्रिपदा गायत्री परोरजा आदित्य में प्रतिष्ठित है। क्योंकि आदित्य ही मूर्त-अमूर्त दोनों का ही रस है। इसके बिना सब शुष्क हो जाते हैं, अतः त्रिपदा गायत्री आदित्य में प्रतिष्ठित है। 'आदित्य चक्षुः स्वरूप सत्ता में प्रतिष्ठित है। वह सत्ता बल अर्थात् प्राण में प्रतिष्ठित है,

अतः सर्वाश्रयभूत प्राण ही परमोत्कृष्ट हैं। गायत्री अध्यात्मप्राण में प्रतिष्ठित है। जिस प्राण में सम्पूर्ण देव, वेद, कर्मफल एक हो जाते हैं, वही प्राणस्वरूपा गायत्री सबकी आत्मा है। शब्दकारी वागादि प्राण 'गय' है, उनका त्राण करने वाली गायत्री है। आचार्य अष्टवर्ष के बालक को उपनीत करके जब गायत्री प्रदान करता है, तब जगदात्मा प्राण ही उसके लिये समर्पित करता है। जिस माणवक को आचार्य गायत्री का उपदेश करता है, उसके प्राणों का त्राण करता है, नरकादि पतन से बचा लेता है।

गायत्री के प्रथम पाद को जानने वाला यति यदि धनपूर्ण तीनों लोकों का दान ले, तो भी उसे कोई दोष नहीं लगता है। जो द्वितीय पाद को जानता है, वह जितने में त्रयीविद्यारूप सूर्य तपता है, उन सब लोकों को प्राप्त कर सकता है। तीसरे पाद को जाननेवाला सम्पूर्ण प्राणिवर्ग को प्राप्त कर सकता है। सारांश यह है कि यदि पादत्रय के समान भी कोई दाता-प्रतिग्रहीता हो, तब भी गायत्रीविद् को प्रतिग्रहदोष नहीं लगता, फिर चतुर्थ पाद के वेदिता के लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो उसके ज्ञान का फल कहा जा सके। वस्तुतः त्रिपाद-विज्ञान का भी प्रतिग्रह से अधिक ही फल होता है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कौन ले सकता है। गायत्री के उपस्थान-मन्त्र में कहा गया है कि 'हे गायत्री! आप त्रैलोक्यरूप पाद से एकपदी हो, त्रयीविद्यारूप पाद से द्विपदी हो, प्राणादि तृतीय पाद से त्रिपदी हो, चतुर्थ तुरीय पाद से चतुष्पदी हो।

इस तरह चार पाद से मन्त्रों द्वारा आपकी उपासना होती है। इसके बाद अपने निरुपाधिक आत्मास्वरूप से अपद हो, 'नेति-नेति' इत्यादि निषेधों से वह सर्वनिषेधों का अवधिरूप से बोधित सम्पूर्ण व्यवहारों का अगोचर है, अतः प्रत्यक्ष परोरजा आपके तृतीय पाद को हम प्रणाम करते हैं। आपकी प्राप्ति में विघ्नकारी पापी, आपकी प्राप्ति में विघ्नसम्पादक लक्षण अपने अभीष्ट को प्राप्त न करें- इस अभिप्राय से अथवा जिससे दोष हो, उसके प्रति भी अमुक व्यक्ति अभिप्रेत फल को प्राप्त न करें, मैं अमुक फल पाऊँ, ऐसी भावना से वह मिल जाता है। गायत्री का अग्नि ही मुख है। उनके अग्नि-मुख को न जानने के कारण एक गायत्रीविद् हाथी बनकर राजा जनक का वाहन बना था। जैसे अग्नि में अधिक से अधिक ईंधन समाप्त हो जाता है, वैसे ही अग्निमुखी गायत्री के ज्ञान से सब पाप समाप्त हो जाते हैं।

'*छान्दोग्योपनिषद्* में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण चराचर भूत-प्रपञ्च गायत्री ही है। किस तरह सब कुछ गायत्री है, इस पर कहा गया है कि वाक् ही गायत्री है, वाक् ही समस्त भूतों का गान एवं रक्षण करती है। 'गो, अश्व, महिष, मा भैषीः' इत्यादि वचनों से वाक् द्वारा ही भय की निवृत्ति होती है। गायत्री को पृथ्वीरूप मानकर उसमें सम्पूर्ण भूतों की स्थिति मानी गयी हैं। क्योंकि स्थावर-जङ्गम सभी प्राणिवर्ग पृथ्वी में ही रहते हैं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। पृथ्वी को शरीररूप मानकर उसमें सम्पूर्ण प्राणों की स्थिति मानी गयी है। शरीर को हृदय का रूप मानकर उसमें सम्पूर्ण प्राणों की प्रतिष्ठा कही गयी है। इस तरह चतुष्पाद षडक्षरपाद, गायत्री वाक्, भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय, प्राणरूपा षड्विधा गायत्री का वर्णन है। पुनश्च सम्पूर्ण विश्व को एकपादमात्र कहकर अन्त में त्रिपाद ब्रह्म को उससे पृथक् भी कहा है। इसके अतिरिक्त पूर्वकथनानुसार गायत्री-मन्त्र के द्वारा सगुण-निर्गुण किसी भी ब्रह्मस्वरूप की उपासना की जा सकती है।

सुतरां उत्पत्तिशक्ति ब्रह्माणी, पालिनीशक्ति नारायणी, संहारिणीशक्ति रुद्राणीका ध्यान गायत्री मन्त्र के द्वारा हो सकता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि जिन-जिन में विश्वकारणता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता प्रमाणसिद्ध है, वे सभी परमेश्वर हैं, सभी गायत्री-मन्त्र के अर्थ हैं। इस दृष्टि से अपने इष्ट देवता का ध्यान भी गायत्री मन्त्र द्वारा सर्वथा उपर्युक्त है। 'सविता' शब्द सूर्य के सम्बन्ध में विशेष प्रसिद्ध है, अतः उसी की सारशक्ति सावित्री को आदित्यमण्डलस्था भी कहा गया है। महर्षि कण्व ने अमृतमय दुग्ध से मही को पूर्ण करती हुई गोरूप से गायत्री का अनुभव किया था-

तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारपयसा महीं गाम् ।।

विश्वमाता, सुमतिरूपा, वरेण्य सविता की गर्भस्वरूपा गायत्री का मैं वरण करता हूँ, जिसको कण्व ने हजारों पयोधारा से महीमण्डल को पूर्ण करते हुए देखा। चन्द्रकला निबद्ध रत्नों के मुकुटों को धारण किये, वरद एवं अभयमुद्राएँ, अङ्कुश, चाबुक, उज्ज्वल कपाल, पाश, शङ्ख चक्र, अरविन्दयुगल दोनों ही ओर के हाथों में लिये हुए भगवती का ध्यान करना चाहिये। पञ्चतत्त्वों एवं पञ्च देवताओं की सारभूत महाशक्ति एकत्रित मुक्ता, प्रवाल, हेम, नील ध्वज पञ्चमुखी भगवती के रूप में प्रकट है। आगमों में उनका ध्यान यों निर्दिष्ट है-

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वात्मवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे।। — *शारदातिलक २१.१५*

इस स्वरूप के ध्यान में सगुण-निर्गुण दोनों ही ब्रह्मरूप आ जाते हैं। दिव्य कमलपर विराजमान, मनोहर भूषण-अलङ्कारों से विभूषित, सुसज्जित उपर्युक्त स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। गायत्री-मन्त्र का जप चाहे किसी स्थान, समय एवं स्थिति में नहीं किया जा सकता।

इसके लिये पवित्र नदीतट आदि देश-सन्ध्यादि काल तथा पात्र की अपेक्षा है, तभी वह त्राण कर सकती है।

इसके अतिरिक्त वेदों की शाखाएँ, कल्पसूत्र, आश्वलायनादि गृह्यपरिशिष्टों में शाखाभेदों से भी सन्ध्या-ध्यानादिकर्मों में कुछ विभिन्नता स्पष्ट है। आगमों पुराणों में उनका ही उपवृंहण है। *आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट* में निर्दिष्ट ध्यान अन्यों से भिन्न है। देवीभागवतादि का भिन्न है। कम से कम चारों वेदों के संध्या ग्रन्थ स्पष्ट ही अलग हैं। आजकल *वाजसनेयिशाखा* का अधिक प्रचार है। अतः अपनी शाखा, सूत्र (कल्पसूत्र, श्रौत गृह्यादि) को ठीक-ठीक जानकर ही सन्ध्यादि कृत्य करना उचित है।

❑

तान्त्रिक दृष्टि में शिव, शक्ति और बिन्दु

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज

किसी साधना के विषय में आलोचना करने के लिए सबसे पहले उसकी आनुषङ्गिक दृष्टि के साथ परिचय कर लेना आवश्यक है। दृष्टि से ही लक्ष्य का निर्देश होता है। लक्ष्य निर्दिष्ट न होने तक साधना की चेष्टा उन्मत्त प्रलाप के समान अर्थहीन होती है, क्योंकि लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के उपाय को जानकर उसका यथाविधि अनुशीलन करना ही साधना है। अतः तान्त्रिक साधना को समझने के लिये तान्त्रिक दृष्टि के साथ परिचित होने की उपयोगिता माननी पड़ती है। पूर्ण और अपूर्ण भेद से दृष्टि दो प्रकार की है। अपूर्ण दृष्टि से जो लक्ष्य जान पड़ता है पूर्ण दृष्टि होने पर वह साध्य नहीं गिना जाता- यह प्रकृत लक्ष्य का एक अंश ही जान पड़ता है। परन्तु आलोचना के लिये इन दोनों ही दृष्टियों की मर्यादा रखनी आवश्यक है। साधना की परिपक्वता से अपूर्ण दृष्टि का पर्यवसान पूर्ण दृष्टि में ही होता है।

जिस प्रकार बौद्धगण बुद्ध, धर्म, तथा सङ्घ-त्रिरत्न (तीन रत्न) स्वीकार करते हैं वैसे ही भेदवादी तान्त्रिक आचार्यगण भी शिव, शक्ति और बिन्दु-ये तीन रत्न मानते हैं। ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता एवं उपादानरूप से प्रकाशमान हैं। शुद्धतत्त्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत् का उपादान बिन्दु है तथा कर्ता शिव है और करण शक्ति है। अशुद्ध तत्त्वमय जगत् में भी परम्परा से शिव और शक्ति ही कर्ता एवं कारण हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओं के द्वारा बिन्दु आधार है। बिन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। शब्दब्रह्मः, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति, अनाहत और व्योम-इन विचित्र सुखमय भुवन और भोग्यादि के रूप में परिणत होकर यही शुद्ध जगत् उत्पन्न करता है। भोगार्थी साधक भौतिक दीक्षा के प्रभाव से इस आनन्दमय राज्य में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करता है। किन्तु जो पहले से ही इस महामाया के राज्य के सुखभोग की इच्छा नहीं रखते वे नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त करके शक्ति के साथ नित्य मिले हुए शिवस्वरूप साक्षात् परमेश्वर को उपलब्ध करते हैं।

बिन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्धदेह, इन्द्रिय, भोग और भुवन के रूप में परिणत होता है, जिसे कि 'शुद्ध अध्वा' कहते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर यही शब्द की भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्मनाद, अक्षर बिन्दु और वर्णभेद से तीन प्रकार का है। सूक्ष्मनाद अभिधेय बुद्धि का कारण एवं बिन्दु का प्रथम प्रसार है। यह चिन्तनशून्य है। अक्षर-बिन्दु सूक्ष्म नाद का कार्य और परामर्शज्ञानस्वरूप है। यह मयूराण्डरसन्याय की तरह अनिर्वचनीय है। आकाश और वायु से श्रोत्रग्राह्य वर्णात्मक स्थूल शब्द उत्पन्न होता है। *कालोत्तर तन्त्र* में लिखा है—

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत्।
चिन्तया रहितं यत्तु तत्परं परिकीर्तितम्।।

बिन्दु जड़ होने पर भी शुद्ध है। पाञ्चरात्र अथवा भागवतसम्प्रदायान्तर्गत वैष्णव आगम में 'विशुद्ध सत्त्व' शब्द से जो कुछ समझा जाता है वही बिन्दु है। परमेश्वर के साथ बिन्दु अथवा महामाया के सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं-

(क) एक प्रसिद्ध मत तो यह है कि शिव की दो शक्तियाँ हैं- समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा और स्वाभाविकी है। यही शक्तितत्त्व है। यह शिव में नित्य समवेत रहती है। शिव-शक्ति दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशीला है। इसका नाम बिन्दु है। बिन्दु के शुद्ध और अशुद्ध दो रूप है। साधारणतः शुद्ध रूप को ही बिन्दु और महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूप का नाम माया है। दोनों ही नित्य है। अशुद्ध अध्वा का उपादानकारण माया है और शुद्ध अध्वा का उपादान महामाया है। यही इन दोनों का अन्तर है। सांख्यसम्मत तत्त्व एवं कलादि कञ्चुक अशुद्ध अध्वा के ही अन्तर्गत हैं। यह सब माया का ही कार्य है। (अवश्य पुरुष या आत्मा नित्य है तथा इनसे विलक्षण है, परन्तु उसमें भी पुंस्त्व नामक आवरण रहता है।) माया से ऊपर के तत्त्व शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं।

(ख) दूसरा मत यह है कि एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध और अशुद्ध अध्वा का उपादान है। इस मत में माया नित्य नहीं है, किन्तु कार्यरूपा है। महामाया या बिन्दु की तीन अवस्थाएँ हैं-परा, सूक्ष्मा और स्थूला। परा अवस्था को महामाया, परामाया, कुण्डलिनी आदि नामों से कहा जाता है। यही परम कारण और नित्य है। सूक्ष्म और स्थूल- ये दोनों अवस्थाएँ कार्य होने के कारण अनित्य है। महामाया के विक्षुब्ध होने पर ही उससे शुद्ध धामों तथा उनमें रहने वाले मन्त्रों (विद्याओं) एवं मन्त्रेश्वरों (विद्येश्वरों) के शरीर और इन्द्रियादि रचे जाते हैं। अर्थात् शुद्ध लोकों के संस्थान और देहादि सब साक्षात् महामाया के कार्य हैं। ये शुद्ध मायातीत और उज्ज्वल हैं। महामाया की सूक्ष्म या दूसरी अवस्था का नाम माया है। कलादितत्त्वसमूह का अविभक्त स्वरूप ही माया है। कलादि के सम्बन्ध के कारण ही द्रष्टा आत्मा भोक्ता पुरुषरूप में परिणत होता है। माया से तत्त्व एवं भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् या परम्परारूप से उत्पन्न होते हैं। सारे अशुद्ध अध्वा का मूलकारण यह माया ही है। आगम में जिस प्रकार इसे 'जननी' कहा है वैसे ही 'मोहिनी' भी कहा गया है। महामाया की स्थूल या तीसरी अवस्था का नाम प्रकृति है। यह त्रिगुणमयी है। प्रकृति साक्षात् या परम्पराक्रम से भोक्ता पुरुष के बुद्धि आदि भोग साधनों को तथा समस्त भोग्य-विषयों को उत्पन्न करती है। कलादि के सम्बन्ध से पुरुष भोक्ता हो गया है, इसीसे उसके भोग्य तथा भोगसाधनों की सृष्टि के लिये महामाया ने प्रकृतिरूप स्थूल अवस्था ग्रहण की है।

बिन्दु शिव में समवेत नहीं है- यह पहले कहा जा चुका है। यही प्रचलित मत है। इस मत में बिन्दु परिणामी होने के कारण जडरूप है। इसीसे चिदात्मक परमेश्वर के रूप से इसका समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता। शिव के साथ बिन्दु का समवाय स्वीकार करने पर उनके अचेतनत्व का प्रसङ्ग अनिवार्य हो जायेगा। श्रीकण्ठाचार्य कहते हैं-

स हि तादात्म्यसम्बन्धो जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्डचिद्घनैकस्वरूपिणः।।

किन्तु तान्त्रिक भेदवादियों में कोई-कोई बिन्दुसमवायवादी भी थे। उनके मतानुसार शिव की समवायिनी शक्ति दो प्रकार की है- एक तो दृक्शक्ति या ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति या कुण्डलिनी। क्रियाशक्ति का ही दूसरा नाम बिन्दु है। माया अवश्य ही इससे सर्वथा भिन्न है। माया शिव में समवेत नहीं होती। अपने में समवेत ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगद्विषयक ज्ञान और क्रियाशक्ति भिन्न-भिन्न पदार्थों को विषय करने से ही चरितार्थ होती है। किन्तु क्रियाशक्ति के बिना वस्तुनिर्माणरूप फल नहीं हो सकता। ये ज्ञान और क्रियारूपा दो शक्तियाँ परमेश्वर में अविनाभूतरूप से प्रतिष्ठित हैं।

जिस प्रकार बिन्दु का क्षोभ होने से शुद्ध जगत् उत्पन्न होता है वैसे ही माया का क्षोभ होने पर अशुद्ध जगत् का आविर्भाव होता है। अपने में समवेत शक्ति के द्वारा परमेश्वर के बिन्दु को स्पर्श करने से बिन्दु में क्षोभ होकर वैषम्य होता है और किसी प्रकार नहीं। अतः एकमात्र साक्षात् परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु माया का क्षोभ इस प्रकार साक्षात् रूप से परमेश्वर की शक्तिद्वारा नहीं होता।

तन्त्रमत में सृष्टि, पालन, संहार, निग्रह और अनुग्रह- इन पाँच कार्यों का मुख्य कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही है, ब्रह्मादि तो केवल द्वारमात्र हैं। इसीसे सर्वत्र उसे 'पञ्चकृत्यकारी' कहकर वर्णन किया है। इन्हीं कृत्यों को सम्पादित करने के लिये शुद्ध अध्वा की आवश्यकता होती है। इसीलिये बिन्दु के क्षोभ की भी अपेक्षा है। यद्यपि वस्तुतः परमेश्वर एक और अद्वितीय है तथा उसकी शक्ति भी वैसी ही है तथापि उपाधिभेद के कारण उसमें आरोपित किया हुआ भेद भी अवश्य है। जिस समय उसकी शक्ति अव्यक्त रहती है उस समय वह निष्क्रिय, शुद्ध और संविद् रूपा होती है। उस समय बिन्दु भी स्थिर और अक्षुब्ध रहता है, क्योंकि शक्ति की सक्रिय अवस्था हुए बिना बिन्दु क्षुब्ध नहीं हो सकता। पर बिन्दु के स्वरूप के अधिष्ठाता परमेश्वर की यह लयावस्था है। यहाँ प्रसङ्गवश एक बात कहना उचित जान पड़ता है। प्रचलित मत में शक्ति एक होने के कारण उसमें ज्ञान और क्रिया का कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है वह औपाधिक है। अतः ज्ञान भी सदा क्रियारूप ही है। इसीसे क्रिया शब्द से प्रायःशक्ति ही समझी जाती है। जिस समय यह शक्ति सारे व्यापारों को समाप्त करके स्वरूपमात्र में स्थित होती है उस समय शिव को शक्तिमान् कहा जाता है। क्रियारूप शक्ति उस समय मुकुलिता सी हुई शिव में स्थित रहती है। यहीं शिव की पूर्वोक्त लयावस्था है। जिस समय यह शक्ति उन्मेष को प्राप्त होकर उद्योगपूर्वक बिन्दु को कार्योत्पादन के अभिमुख करती है और कार्योत्पादन करके शिव के ज्ञान और क्रिया की समृद्धि करती है तब शिव की भोगावस्था होती है। परमेश्वर का भोग या परमानन्द सुखसंवेदनरूप नहीं है, क्योंकि मलहीन चित्सत्ता में उपाधिभूत आनन्द और भोग की सम्भावना नहीं है। इस अवस्था में शक्ति सक्रिय रहती है। इसीसे उसके साथ शिव को भी सक्रिय कहा जाता है।

स तया रमते नित्यं समुद्युक्तः सदाशिवः।
पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् देवः सकलनिष्कलः।।

लयावस्था में शिव को निष्कल एवं भोगावस्था में 'सकल निष्कल' कहा जाता है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त, उनकी अधिकारावस्था नाम की एक और भी अवस्था है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। इस अवस्था में सकल रहते हैं। किन्तु उनका यह अवस्थाभेद वास्तविक नहीं है, औपचारिक मात्र है। शक्ति या कला की अविकास दशा, विकासोन्मुख दशा एवं पूर्णविकास दशा के अनुसार ही शिव के इस अवस्थाभेद की कल्पना की जाती है।

शिव और शक्ति के इस अवस्थाभेद के मूल में बिन्दु का अवस्थाभेद रहता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत– ये कलाएँ बिन्दु की ही पृथक् पृथक् अवस्थाएँ हैं। उनमें शान्त्यतीत कला बिन्दु का स्वरूप मानी जा सकती है। वह अक्षुब्ध बिन्दु या लयावस्था है। शुद्ध और अशुद्ध जितने भी भोगाधिष्ठान हैं वे सब शान्ति आदि चार कलाओं के ही परिणामस्वरूप हैं। वस्तुतः भोगाधिष्ठान कहने पर शान्ति आदि चार कलाओं के भुवन ही समझते जायेंगे। शान्त्यतीतरूप या परबिन्दु समस्त कलाओं की कारणावस्था या लयावस्था है। अतः शान्त्यतीत भुवन ठीक ठीक भोगस्थान नहीं है। किन्तु सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न होने के कारण किन्हीं–किन्हीं आचार्यो ने इसकी भी भोगस्थानों में गणना की है। यह भोग की बीजावस्था है।

कलात्मक शक्ति ही शिव के देहरूप में अध्यस्त होती है। अतएव लयावस्था में बिन्दु का विक्षोभ न रहने से कला का उद्भव न होने के कारण निष्कल शिव को अशरीर कहा जाता है। भोगावस्था में शिव सकल निष्कल रहते हैं– तब उनका देह पञ्चमन्त्रात्मक रहता है। तन्त्रमत में शक्ति ही मन्त्र है, अतः यह पञ्चशक्तिमय होता है–

मननात्सर्वभावानां त्राणात्संसारसागरात्।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी।।

यह मन्त्ररूपा शक्ति मूल में एक ही है। किन्तु उपाधिवशतः नाना हो गयी है। अधिष्ठान होने के कारण कार्यभेद से एक ही शक्ति पाँच रूप से प्रतीत होती हैं तदनुसार बिन्दु भुवन की या शान्त्यतीत कलाभुवन की अधिष्ठात्री शक्ति को ईशान मन्त्र एवं शान्ति आदि चार भुवनों की अधिष्ठात्री शक्तियों को क्रमशः तत्पुरुष सद्योजात, वामदेव एवं अघोर मन्त्र कहा जाता है। ये भुवन भोगस्थान हैं। ईशानादि पञ्चमन्त्रात्मिका शक्ति देह का कार्य करती है। इसलिये उसे यह पञ्चमूर्ति परमेश्वर के पञ्चकृत्यों में उपयोगी है। बिन्दु की समस्त कलाएँ कारणावस्था में लीन रहने पर अर्थात् परबिन्दु अवस्था में उनका कोई विभाग नहीं रहता। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की परामूर्ति है। यह लयावस्था की बात है। जिस समय शिव को अशरीर कहा जाता है उस उस समय शक्ति लीन रहती है तथा बिन्दु अक्षुब्ध एवं असत्कल्प रहता है। एकमात्र शिव ही उस समय अपनी महिमा में विराजमान रहते हैं। जिस समय बिन्दु की कलाएँ कार्यावस्था में रहती हैं उस समय उनकी अधिष्ठात्री शक्ति को शिव की अपरामूर्ति कहते हैं। भोगस्थानरूप में जिन कला और भुवनों का उल्लेख किया है उनमें निवृत्तिभुवन सबकी अपेक्षा निम्न कोटि का है। इस निवृत्तिभुवन के अधोवर्ती भुवन का नाम सदाशिव भुवन है। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की अपरामूर्ति अथवा सदाशिवतनु है। 'सदाशिवतनु' नाम औपचारिक है– सदाशिव भुवन के अधिष्ठान के कारण इसका उद्भव हुआ है। दीक्षादि के द्वारा जो जो जीव तत्तद् भुवन में जाते हैं उनका भेद सत्य है किन्तु शिव और शक्ति का भेद कार्यभेद के कारण औपाधिक है–

अधिकारी न भोगी च लयी स्वादुपचारतः।

अर्थात् शिव की शक्ति से शोभित महामाया जो जो कार्य उत्पन्न करती है उससे उसके अधिष्ठाता शिव और शक्ति में कार्यभेद और स्थानभेद के कारण उपचार से तत्तत् संज्ञा का व्यपदेश है। दृष्टान्तरूप में कह सकते हैं कि जैसे शान्तिभुवन के अधिष्ठान और उत्पादन के कारण शक्ति और शिव क्रमशः 'शान्ता' और 'शान्त' संज्ञा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। *मृगेन्द्र आगम* में लिखा है-

किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् स शास्त्रे शक्तिभेदवत्।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदस्थानभेदतः।।

अधिकार अवस्थापन्न शिव सकल हैं। वे बिन्दु से अवतीर्ण और अणुसदाशिवों से आवृत हैं। ये सब सदाशिव वस्तुतः पशु आत्मा है, शिवात्मा नहीं हैं। इसमें कुछ 'आणव मल' शेष रहता है। इससे उस समय उनकी ज्ञान-क्रियारूपा शक्ति का कुछ संकोच रहता है। ये शिव के समान पूर्णरूप से अनावृतशक्तिसम्पन्न नहीं होते। यद्यपि ये भी मुक्तपुरुष हैं तथापि सर्वथा मलहीन न होने के कारण अभी तक इन्हें परामुक्ति या शिवसाम्य प्राप्त नहीं हुआ है। सदाशिवभुवन के अधिष्ठाता होने के कारण परमेश्वर को भी सदाशिव कहा जाता है। वे स्वयं शिव हैं और पूर्वोक्त अणुसदाशिवों को अपने-अपने भुवन के भोग में नियोजित करते हैं। तथा विद्येश्वर एवं मन्त्रेश्वरों को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार अशुद्ध अध्वा के अधिकार में नियुक्त करते हैं। यह दो प्रकार का नियोजन व्यापार ही अधिकारावस्था में शिव या सकलशिव का कार्य है। यही उनका प्रेरकत्व और प्रभुत्व है। ये सदाशिवरूपी शिव ही समस्त जगत् के प्रभुरूप से शुद्ध एवं अशुद्ध समस्त अध्वाओं के मूर्द्धदेश में विराजमान हैं। योगिजन इसी भाव से उनका ध्यान करते हैं। माया के ऊपर शुद्ध अध्वा में अनेकों भुवन हैं। प्रत्येक भुवन में तदनुरूप देह एवं करण आदि तथा भोग्यादि हैं। ये विशुद्ध बैन्दव उपादान से रचे हुए हैं। इनमें भी भुवन के ऊर्ध्व एवं अधोभाव से क्रमिक उत्कर्षापकर्ष है। दृष्टान्तरूप से कह सकते हैं कि विद्या में जो वामा एवं ज्येष्ठादि भुवन हैं उनमें वामा के भुवन की अपेक्षा ज्येष्ठा का भुवन उत्कृष्ट माना जाता है। इसी प्रकार के ज्येष्ठा के भुवन की अपेक्षा रौद्रीय भुवन उत्कृष्ट है इत्यादि। इस विद्यातत्त्व में सात करोड़ मन्त्र तथा उनकी अधीश्वरी सात विद्याराज्ञी स्थित है। ईश्वरतत्त्व में आठ विद्येश्वर अपने-अपने पुर में विराजते हैं। इनमें शिखण्डी सबसे नीचे हैं और अनन्त सबसे ऊपर है। इनमें भी पूर्ववत् क्रमोत्कर्ष है। सदाशिवतत्त्व में भी ठीक ऐसा ही है।

यहाँ प्रसङ्गतः पशु-आत्मा के सम्बन्ध में दो-चार बातें बतलाना आवश्यक है, ये सब आत्मा स्वरूपतः नित्य विभु चेतन एवं अन्यान्य शिवधर्ममय होकर भी संसारवस्था में इन सब धर्मों के विकास का अनुभव कर नहीं पाते। सर्वज्ञान क्रियारूपा चैतन्यशक्ति जिस प्रकार शिव की है वैसा ही जीव या पशु-आत्मामात्र की भी है। किन्तु भेद यह है कि शिव के स्वरूप में यह सर्वकर्तृत्वरूपा शक्ति सर्वदा अनावृत रहती है। पशु में भी यह है तो सर्वदा ही, तथापि अनादि काल से पाशसमूह के द्वारा अवरुद्ध रहती है। मल, धर्म और माया- इन तीन पाशों में कोई आत्मा एक पाश से बँधा हुआ है, कोई दो से, कोई तीनों से आबद्ध है। जिन आत्माओं में इन तीनों पाशों का बन्धन है वे 'सकल' कहलाते हैं। जिनकी मायिक कलादि प्रलयादि अवस्थाओं में उपसंहृत

हो गयी हैं तथा मल और कर्म क्षीण नहीं हुए हैं, उनका शास्त्रीय नाम 'प्रलयाकल' है। विज्ञानादि उपायों के अवलम्बन से कर्मक्षय हो जानेपर जब केवल 'मल' नाम एक ही पाश रह जाता है तो इस अवस्था में आत्मा को 'विज्ञानाकल' कहते हैं। ये विज्ञानाकल अथवा विज्ञान केवली आत्मा भी मल के परिपाकगत तारतम्य के कारण तीन प्रकार के हैं। वे सभी मायातीत है, सभी की कर्मवासनाएँ कट गयी हैं। किन्तु किञ्चित् अधिकारमल रह जाने के कारण उन्हें शिवसाम्यरूप पूर्णत्व प्राप्त नहीं हुआ है।

उत्तीर्णमायाम्बुधयो भग्नकर्ममहार्गलाः।
अप्राप्तशिवधामानः त्रिधा विज्ञानकेवलाः।।

इन तीन प्रकार के विज्ञानाकल आत्माओं के नाम और परिचय के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ कहा जाता है–

(क) विद्यातत्त्वनिवासी मन्त्र और विद्या ये संख्या में सात करोड़ हैं। तथा विद्येश्वरवर्ग की आज्ञा के अधीन रहते हैं। इनका वासस्थान या भुवन विद्यातत्त्व में है। विद्येश्वरगण पाशबद्ध 'सकल' जीवों के उद्धार के समय इन मन्त्र और विद्यासंज्ञक विज्ञानाकल आत्मा या देवताओं का अपने अनुग्रह कार्य के कारणरूप से व्यवहार करते हैं। पञ्चकृत्यकारी होने के कारण विद्येश्वरगण में भी अनुग्राहकत्व है। वामादि विद्याभुवन उत्तरोत्तररूप से स्थित हैं। देह, भोग और इन्द्रिय आदि का उत्कर्ष इन भुवनों में क्रमशः अधिक है। ज्ञान, योग एवं संन्यासादि उपायों से अथवा भोग के द्वारा कर्मराशिका क्षय होने पर कर्मो के फल भोग के साधनभूत मायिक सूक्ष्म एवं स्थूल देह का आत्यन्तिक विश्लेष हो जाता है। उस समय आत्मा कैवल्य को प्राप्त होकर माया के ऊपर शुद्ध विद्यातत्त्व को आश्रय करके अणुरूप में स्थित होता है। तब कर्म और माया कट जाने पर भी मल शेष रह जाता है। इस कल के निवृत्त हुए विना आत्मा का पशुत्व नष्ट न होने के कारण उसके शिवत्वलाभ की सम्भावना नहीं होती। मल परिपक्व न होने तक पशुत्व की निवृत्ति असम्भव है। अतः ये आत्मा मायातीत एवं केवलीभाव को प्राप्त होने पर भी अपरामुक्तितक प्राप्त नहीं कर पाते– परामुक्ति की तो बात ही क्या है। सृष्टि के आरम्भ में इन अणु या आत्माओं में से जिनका मल न्यूनाधिकरूप से परिपक्व हो जाता है उन पर भगवान् स्वयं ही कृपा करते हैं। अर्थात् उनके अपने-अपने मलपाश के अनुरूप उनमें ज्ञानक्रिया शक्ति उन्मीलित कर देते हैं। तथा मन्त्र एवं मन्त्रेश्वर आदि पदपर शुद्ध अध्वा में भोग तथा अधिकार कार्य में नियोजित कर देते हैं। इनमें जो अत्यन्त शुद्ध होते हैं, वे एक साथ परतत्व या शिवतत्त्व में नियोजित हो जाते हैं। शेष आत्माओं का मलपाक न होने के कारण उनका आवरण बहुत सघन रहता है। ये विज्ञानकैवल्य की चैतन्यरूपा सर्वज्ञानक्रियाशक्ति इस अवस्था में सुप्त रहती है। इसलिये कैवल्य में भी उनका पशुत्व निवृत्त होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। ये केवली आत्मा कर्महीन होने के कारण जहाँ एक ओर माया के कार्य या मायिक जगत् को पार कर लेते हैं वहाँ दूसरी ओर महामाया या बिन्दु के कार्यरूप विशुद्ध अध्वा या जगत् में अभीतक प्रवेश भी नहीं कर पाते हैं– ये बीच ही में रहते हैं। आत्मा स्वरूपतः विभु होने के कारण विज्ञान केवलियों की यह मध्यस्थता औपचारिक मात्र होती है। इसमें सन्देह नहीं है कि कैवल्य तन्त्रसम्मत मुक्ति नहीं है।

(ख) ईश्वरतत्त्ववासी विद्येश्वर– ये संख्या में आठ हैं। उनमें 'अनन्त' प्रधान हैं। ईश्वरतत्त्व में इनके आठ भुवन हैं। इनमें भी उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता पायी जाती है। अर्थात् शिखण्डी से श्रीकण्ठ में विशेष गुण हैं। इनके भुवन भोग, देह और करण आदि भी उनसे श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार श्रीकण्ठ से त्रिमूर्ति अधिक शक्तिशाली हैं। इन विद्येश्वरों में अनन्त ही सबसे श्रेष्ठ और परम ईश्वर (समर्थ) हैं। इनका मल सर्वथा शान्त हो गया है, केवल अधिकारमात्र की थोड़ी सी वासना रह गयी है। ये सभी शिव द्वारा अनुगृहीत होते हैं। ये प्रशान्तमलत्व, अधिकारमल समबद्धत्व और शिवानुगृहीतत्व मन्त्रगण में भी रहते हैं। किन्तु ये पञ्चकृत्यकारी होने के कारण जीवोद्धार रूप व्यापार में अनुग्रह के कर्ता होते हैं और मन्त्रगण अनुग्रह के करण हैं– यही इनका भेद है। इन विद्येश्वरगण के विषय में *रौरवागम* में लिखा है–

सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः।
शिवार्ककरसम्पर्कविकासात्मीयशक्तयः॥

इस वाक्य के अनुसार इनकी आत्मशक्तियाँ शिव के अनुग्रहात्मक संसर्ग से विकसित हो गयी हैं।

(ग) सदाशिवतत्त्वस्थभुवनवासी पशु अथवा संस्कार्य सदाशिव– ये सदाशिव अथवा अधिकारापस्थापक शिव के समान पञ्चकृत्यकारी हैं– सदाशिवतत्त्व में आश्रित होने के कारण ये भी सदाशिव नाम से ही परिचित हैं। ये परमेश्वर की कृपा से शुद्ध अध्वा के उपर स्थित हैं।

शुद्ध अध्वा में विद्या, ईश्वर और सदाशिव– इन तीन तत्त्वों के आश्रय से भोक्तृवर्ग के अधीश्वर तो रहते ही हैं, उनके सिवा और भी अगणित आत्मा रहते हैं। इन आत्माओं में से किन्हीं किन्हीं ने तत्तद् भुवन के अधिष्ठाता की आराधना करके और किन्हीं ने दीक्षा के प्रभाव से उन भुवनों में स्थान प्राप्त किया हैं। *सूक्ष्म स्वायम्भुव* आगम में कहा है–

यो यत्राभिलषेद्भोगान् स तत्रैव नियोजितः।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात् ....॥

इस विषय में *स्वच्छन्द तन्त्र* में भी बहुत आलोचना की गयी है।

अब प्रलयाकल और सकलनामक पशु–आत्माओं के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ कहा जाता है। प्रलय के समय ईश्वर समस्त मायिक कार्य का उपसंहार करके स्थित रहते हैं– यह प्रसिद्ध ही है। प्रलय का उद्देश्य दीर्घकालतक संसार में परिभ्रमण करने कारण थके हुए आत्माओं को विश्राम देना, उनके कर्मों का परिपाक करना तथा असंख्य कार्यपरम्परा की उत्पत्ति के कारण जिसकी शक्ति का क्षय हुआ है उस माया की शक्तिवृद्धि करना है। जिन कला आदि भोगसाधनों के द्वारा आत्मा विषयभोग करने में समर्थ होते हैं, वे प्रलयकाल में बिलीन हो जाते हैं, इसलिये उस समय आत्मा कर्म और मल– इन दोनों पाशों में बँधकर नवीन सृष्टि का आरम्भ होने तक माया के भीतर रहते हैं। इन्हें 'प्रलयाकल या प्रलयकेवल जीव' कहकर वर्णन किया जाता है। यद्यपि तबतक इनका कर्मक्षय नहीं हो पाता तथापि ये प्रलय के प्रभाव से कलादिहीन होकर एक प्रकार की कैवल्यावस्था में ही रहते हैं। इनमें से जिनके कर्म और मल सम्यक् प्रकार से परिपक्व हो जाते हैं, उन्हें परमेश्वर तत्क्षण परामुक्ति प्रदान करते हैं– फिर उन्हें अधिकार प्रदान करने का अवसर नहीं रहता।

मलपाक एवं कर्मपाक के विषय में बहुत सी जानने योग्य बाते हैं। मलपाक प्रधानतः श्रीभगवान् की शक्ति के सम्बन्ध में ही होता है। कर्मपाक भी किसी अंश में तो मलपाक के ही सदृश है। कर्मों में बहुत भेद रहता है। जो कर्म क्रमशः पाक होने वाले हैं, उनका क्षय जीव का देह से सम्बन्ध होने पर भोग के द्वारा ही होता है, और जो एक साथ पक्व होने होते हैं, उनका क्षय श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही होता है। उन्हें भोग द्वारा क्षय नहीं करना पड़ता।

जिन जीवों के मल, कर्म एवं माया परिपक्व नहीं हो पाते वे प्रलयकाल में नवीन सृष्टि का आरम्भ होते तक मुग्ध हुए से विश्राम करते रहते हैं। पीछे जब उन्हें भोगयोग्य अवस्था प्राप्त होती है तब परमेश्वर अनन्तनामक विद्येश्वर में अपनी शक्ति का सन्निवेश करके उसके द्वारा मायातत्त्व को क्षोभित करते हैं तथा अशुद्ध जगत् की रचना करते हैं। इस सृष्टि में वे अपक्वपाश जीव कलादि समस्त भोगसाधनों को प्राप्त कर सकल पशुरूप से आविर्भूत होते हैं। इनमें तीनों ही प्रकार के पाश रहते हैं।

इन सकल पशुओं के सिवा एक प्रकार के सकल जीव भी हैं। इनके मल और कर्म परिपक्व हो जाने पर भी ये सृष्टि के आरम्भ में साक्षात् परमेश्वर का अनुग्रह पाकर उसी के द्वारा माया के गर्भ में स्थित जगत् का अधिकार पाने के लिये अपरमन्त्रेश्वर के पदपर प्रतिष्ठित होते हैं तथा अनन्त की कृपा से आतिवाहिक देह ग्रहणकर 'सकल' नाम से परिचित होते हैं। यह विश्व के व्यापार को सम्पन्न करने वाला माया के गर्भ में स्थित आधिकारिक मण्डल है। आतिवाहिक देह भी मायिक देह है- इसमें सन्देह नहीं। पहले शुद्ध जगत् में माया से ऊपर जिन अधिकारियों के विषय में चर्चा की गयी है। उनके भेद बैन्दव (बिन्दुजनित) अर्थात् महामायारूप उपादान से गठित हैं। किन्तु परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति के समय उत्पन्न होने वाला बैन्दव देह इन सकल आधिकारिकगण को भी प्राप्त होता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है, इसलिये भीतर वर्तमान रहने पर भी उसके द्वारा सकल पशु के अधिकार या शासन का कार्य नहीं हो सकता। इसलिये इस बैन्दव देह के अधिकरणरूप से एक मायिक देह की आवश्यकता होती है। यह मायिक देह और पूर्वोक्त बैन्दव देह अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं। बैन्दव देह शुद्ध और स्वच्छ होने के कारण बोधमय है और मायिक देह आतिवाहिक होने पर भी वस्तुतः मोहमय होता है, तो भी यह बैन्दव देह के सम्बन्ध से अपनी स्वाभाविक मोहमयता को छोड़कर बोधमयरूप से भासमान होता है। मन्त्रवर्ग के विषय में भी यही नियम है। इनके सिवा ऐसे भी जीव होते हैं जिनके मल का पाक न होने पर भी पाप का क्षय और पुण्य का उत्कर्ष होने के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न भुवनों में आधिपत्यलाभ के योग्य शरीर मिल जाता है। ये भुवन अंगुष्ठ से लेकर भुवन कालाग्निपर्यन्त विभिन्न स्तरों में विभक्त हैं।

अब पशु आत्मा के निरूपण के पश्चात् पाश के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि पाश से सम्बन्ध होने के कारण ही आत्मा को पशु भाव की प्राप्ति और संसार का अनुभव होता है। पशु अचेतन है और चेतन के अधीन, परिणामशाली एवं चैतन्य प्रतिबन्धक है। मल, कर्म और माया साधारणतः इन तीन प्रकार के पाशों का ही वर्णन पाया जाता है। इनमें मल ही प्रधान है। शुद्ध आत्मचैतन्यरूपा संवित् शक्ति मलहीना होने के कारण स्वरूप को प्रकाशित करने वाली है- यह सर्वदा

अभिन्नरूपा और परिणामहीना है। तन्त्रमत में घट-पटादि बाह्यभेद भी असत्य नहीं, सत्य ही हैं। इन बाह्य पदार्थों की सन्निधि के कारण बौद्धज्ञान में तत्तत् प्रकार के विभिन्न आकारों की उत्पत्ति होती है और उनका आत्मा के बोध में आरोप होता है। किन्तु अर्थभेद की सन्निधि के कारण बौद्धज्ञान में भेद होने पर भी उस ज्ञान की आश्रयभूता आत्मशक्ति अथवा ग्राहक चैतन्य सर्वदा एक रूप में ही भासमान होता है। वह नित्य और निर्विकार है। इस आत्मसंवित् को ही पौरुषज्ञान कहते हैं। पौरुषज्ञान से बौद्धज्ञान के पार्थक्य का मान न रहने के कारण ही ज्ञान में नानात्व भ्रम का आविर्भाव होता है। इसका मूल कारण पशुत्व का हेतुभूत मल है।

सा तु संविदविज्ञाता तैस्तैर्भावैर्विवर्तते।
मलोपरुद्धदृक्छक्तेर्नरस्येवोहुराट् पशोः।।

जब तक मल की निवृत्ति नहीं होगी तबतक पशुत्व दूर नहीं होगा और शिवत्व की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। केवल ज्ञान के ही द्वारा मल का नाश होना सम्भव नहीं है। द्वैतमत में मल द्रव्यात्मक है। अतः जिस प्रकार आँखों की जाली चिकित्सक की अस्त्रोपचाररूपा क्रिया के द्वारा निवृत्त होती है उसी प्रकार ईश्वर के दीक्षासंज्ञक व्यापार के द्वारा इस मल की निवृत्ति हो सकती है। मल की निवृत्ति का इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। *स्वायम्भुव आगम* में कहा है-

दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि।

अर्थात् दीक्षा ही मल को छुटाती है और फिर ऊपर की ओर शिवलोक में भी ले जाती है। चित् और अचित् का अविवेक मल से उत्पन्न होता है, अतः उस मल की निवृत्ति न होने तक विवेक की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस अविवेक के भी विवर्त्त (अध्यास) का उदय होता है।

मल ही आणव पाश है। यदि आत्मा की नित्य और व्यापक चित् शक्ति का इस आणव पाश से अवरोध न होता तो संसारावस्था में भोगनिष्पत्ति के लिये कलादि के द्वारा अपने सामर्थ्य की उत्तेजना की आवश्यकता न होती तथा मोक्ष के लिये भी परमेश्वर की कृपा या बल का कोई प्रयोजन न होता। मल एक होने पर भी उसकी शक्तियाँ अनेक हैं। उनमें से एक-एक शक्ति के द्वारा एक-एक आत्मा की चित्क्रिया का निरोध होता है। इसी से मल एक होने पर भी एक पुरुष की मलनिवृत्ति के साथ सभी की मलनिवृत्ति प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होता तथा एक पुरुष के मोक्षलाभ से सभी के मोक्ष की आशङ्का भी नहीं होती। ये मल की शक्तियाँ अपने-अपने रोध और अपसरण व्यापार में स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु भगवान् की शक्ति के अधीन हैं।

इसीसे भगवत् शक्ति भी उपचार से अनेकरूप में व्यवहृत होती है। मलशक्तियाँ अपने अपने अधिकार के समय चैतन्य का रोध किये रहती हैं। उस समय भगवत् शक्ति उस शक्तियों का परिणाम करते हुए उनके निग्रहव्यापार का अनुसरण करती है और 'रोधशक्ति' नाम से कही जाती है। किन्तु जिस समय वह सर्वानुग्रहशील नित्योद्योगमय सदाशिव के ईशानसंज्ञक मस्तक से निकलती हुई मोक्ष प्रकाशिका ज्ञानप्रभा द्वारा अणुवर्ग के हृदयकमलों को उन्मीलित करती है तब उसी को 'अनुग्रहशक्ति' कहा जाता है। मलाधिकार की समाप्ति न होने तक मुक्ति नहीं हो सकती। मल की यह अधिकार समाप्ति अपने परिणाम की अपेक्षा से होती

है। मल में परिणत होने की योग्यता रहने पर भी वह अपने आप परिणत होने में समर्थ नहीं है, क्योंकि अचेतन होने के कारण यह सर्वदा सब प्रकार से चित्शक्ति द्वारा प्रयुक्त होने वाला है। अतः परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही मल का परिणाम होता है– यही युक्तिपूर्ण सिद्धान्त है।

कर्मात्मक पाश के विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यह धर्माधर्मात्मक होता है तथा अदृष्ट एवं बीज आदि नामों से प्रसिद्ध है। कर्मसन्तान प्रवाहरूप से अनादि है तथा सूक्ष्म देह के मध्य-अवयवभूत बुद्धितत्त्व में आश्रित है।

माया नाम से जिस पाश की बात कही गयी है वह मायातत्व से भिन्न है। सृष्टि के आरम्भ में जिस समय मन्त्रेश्वर के द्वारा मायातत्त्व क्षोभित होता है उस समय वह कला एवं विद्या आदि तत्त्वरूप से साक्षात् एवं परम्पराक्रम से परिणाम को प्राप्त होता है। कला के लेकर पृथिवीपर्यन्त तीस तत्त्वों की समष्टि ही माया का स्वरूप है। पुर्यष्टक एवं सूक्ष्मदेह आदि इस माया के ही नामान्तर है। यह प्रत्येक आत्मा के लिये अलग-अलग होता है तथा प्रलय या मोक्ष कालपर्यन्त उसके भोगसाधनपथ से कर्मानुसार सम्पूर्ण निम्नवर्ती भुवनों में पर्यटन करता रहता है। मायातत्त्व या मायासंज्ञक पाश एक नहीं है। कलादि तत्त्वों की समष्टिरूपा माया साधारण और असाधारण भेद से दो प्रकार की है। साधारण माया अत्यन्त विस्तृत एवं समस्त आत्माओं की भोग्यरूपा भुवनावली की आधार है। बिन्दु की विद्या प्रतिष्ठा और निवृत्ति नाम की कलाओं में यह निश्चल सी स्थित रहती है। विद्याकला में माया, कला, काल, नियति, विद्या (अविद्या), राग और प्रकृति- ये सात भुवनाधार हैं, जिनमें अंगुष्ठमात्र भुवन से लेकर वामदेव नामक भुवनपर्यन्त सत्ताईस भुवन अवस्थित हैं। प्रतिष्ठाकला में गुणों से लेकर जलपर्यन्त तेईस तत्त्वमय भुवनाधार हैं। इनमें श्रीकण्ठभुवन से लेकर अमरेशभुवन पर्यन्त छप्पन भुवनों का सन्निवेश है। निवृत्तिकला में केवल पृथिवीतत्त्व है। यह भद्रकालीपुर से लेकर कालाग्निभुवन पर्यन्त एक सौ आठ भुवनों का आधार है। इस साधारण माया के विशाल राज्य में प्रत्येक आत्मा के भोगसाधनभूत संकोच विकासशील सूक्ष्मदेहमय असंख्य तत्त्वों की समष्टि इधर-उधर संचार करती रहती है। इन्हें असाधारण माया या पुर्यष्टक कहते हैं। तत्तत् भुवन से उत्पन्न हुए स्थूल देहों के साथ जब इन सूक्ष्म देहों का सम्बन्ध होता है तो उनमें अपने-अपने कर्मो के भोगने की योग्यता उत्पन्न होती है।

मायातत्त्व नित्य विभु और एक है। किन्तु इसमें विचित्र शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में यह ईश्वर शक्ति के द्वारा क्षुब्ध होकर कला, काल और नियति- इन तीन तत्त्वों को उत्पन्न करता है। इनमें कलातत्त्व मलशक्ति को किञ्चित् अभिभूत करके आत्मा की चैतन्यशक्ति का किञ्चित् उद्बोध करता है। इसके परिणाम में आत्मा का स्वरूप उसके द्वारा अनुविद्ध होने के कारण उसमें अपने व्यापार के लिये स्वरूप मात्रा में कर्तृत्वभाव का विकास होता है। मल आत्मा का पराभव न करने पर भी उसकी शक्ति का रोध तो करता ही है। शक्ति ही करण है। अतः कलातत्त्व आत्मशक्ति के मलरूप आवरण को थोड़ा सा हटाकर तथा आत्मा के कर्तृत्व को किञ्चिन्मात्रा में उद्बुद्ध करके आत्मा की अपर कर्मफल भोग में सहायता करता है। बुद्धितत्त्व का विषय से उपरञ्जित होना ही आत्मा का भोग है। यह एक प्रकार का संवेदन है, जिसका स्वरूप प्रवृत्तियों में अभिन्नरूप से भासित होता है।

अनन्तनामक विद्येश्वर के द्वारा ही माया का क्षोभ होता है- यह बात पहले कही जा चुकी है। तान्त्रिक आचार्यगण माया के क्षोम में परमेश्वर का साक्षात् कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते। उनका प्रयोजकत्व तो अवश्य मानते हैं, क्योंकि उनसे अधिष्ठित हुए विना अनन्तादि का कर्तृत्व सम्भव नहीं है। *किरणागम* में लिखा है-

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः।

माया जो इस प्रकार विचित्र भुवनादि एवं नाना प्रकार के देह और इन्द्रियरूप से अर्थात् कर्मफलभोग के साधनरूप से परिणत होती है यह त्रिविध बन्धनयुक्त सकलसंज्ञक पशु के लिये ही है। इन पशुओं में अनात्मा में आत्मभिमानरूप मायामय बन्धन, सुख-दुःख एवं मोह का हेतुभूत विपर्यय तथा अशक्तिप्रभृति भावप्रत्ययात्मक कर्ममय बन्धन और पशुत्व की प्राप्ति कराने वाला अनादि आवरणमय आवरण-बन्धन रहते हैं। तन्त्रमत में शरीरी और अशरीरी आत्मा के कर्तृत्व में कुछ भेद है। इसलिये परमेश्वर का अपनी शक्ति द्वारा किया हुआ बिन्दु या महामाया का विक्षोभ और अपनी शक्तिद्वारा अनन्त का किया हुआ माया का विक्षोभ- ये दोनों सर्वथा एक प्रकार के व्यापार नहीं हैं। शिवकी अपनी शक्ति शुद्धा संवित् अर्थात् विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान है। किन्तु अनन्त की अपनी शक्ति सविकल्पक ज्ञान अर्थात् विकल्पविज्ञान है। शरीर एवं इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध न रहने पर कर्तृत्व नहीं हो सकता- ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अशरीर आत्मा का भी अपने देह के स्पन्दनादि में कर्तृत्व देखा जाता है। आत्मा के साथ मल आदि का सम्बन्ध होने पर ही शरीरादि की आवश्यकता होती है। शिव मलहीन हैं, अतः उनके कर्तृत्व में शरीरादि की अपेक्षा नहीं है। मायापति अनन्त सर्वथा निर्मल नहीं हैं, क्योंकि उनमें अधिकार मल रहता है। उनका शरीर बैन्दव या महामाया के उपादान से रचा हुआ है- यह बात कही जा चुकी है। अनन्तादि को यह सविकल्पक ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है- यह बात जानने योग्य है। तन्त्र का मत तो ऐसा है कि 'यह घट है' इस परामर्शस्वरूप शब्दोल्लेख होने पर आत्मा को सविकल्पक ज्ञान होता है-

सविकल्पविज्ञानं चितेः शब्दानुवेधतः।

अर्थात् चेतन को शब्दानुवेध से सविकल्पक ज्ञान होता है। अतः अनन्त के विकल्पविज्ञान में भी शब्दोल्लेख अवश्य रहता हे- यह बात स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु यह शब्दोल्लेख किस प्रकार सम्भव हो सकता है। हम जिस समय की आलोचना कर रहे हैं उस समय अशुद्ध जगत् की तो उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, क्योंकि माया का क्षोभ होने पर ही उसके परिणाम में इस जगत् की उत्पत्ति होती है। इसीसे तान्त्रिकलोग स्थूल आकाश को इस शब्द के अभिव्यञ्जकरूप से स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि परमेश्वरजनित महामाया या बिन्दु क्षोभ होने पर ही शब्द की उत्पत्ति होती है। महामाया ही कुण्डलिनी या परव्योमस्वरूपा है। इसका ही परिणाम शब्द है। पञ्चभूतों में आदिभूत आकाश जैसे अवकाशदान तथा स्थूल शब्द के अभिव्यञ्जन से सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मण्डल का भोग एवं अधिकार सम्पादन करता है उसी प्रकार बिन्दुरूप परमाकाश भी अवकाशदान तथा शब्द व्यञ्जन के द्वारा शुद्ध जगत् निवासी शिवों को अर्थात् सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वसम्पन्न विद्येश्वरों के भोग तथा अधिकार का कारण बनता है।

बिन्दु परा पश्यन्ती प्रभृति अपनी शब्दात्मिका वृत्तियों के सम्बन्ध से 'यह घट लाल है' इस प्रकार के परामर्शरूप विकल्प का उल्लेख करते हुए सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है। जात्यादिविशेषणविशिष्ट सविकल्पक ज्ञान शब्दानुविद्ध होकर ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षानुभव है। इसको पूर्वानुभूत वासनात्मक संस्कार अथवा भावनारूप में ग्रहण करने का कोई कारण नहीं है। अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है। इसलिये कोई-कोई इस सविकल्पक अनुभव को भी बुद्धि का ही कार्य समझते हैं। परन्तु तान्त्रिक दृष्टि में अध्यवसाय बुद्धि का परिणाम होने पर भी विकल्पज्ञान का उद्भव बिन्दु के कार्य शब्द की सहकारिता से ही होता है। माया के ऊपर बुद्धि नहीं है—यह बात सत्य है, परन्तु विद्येश्वरप्रभृति शुद्ध जगद् वासियों का विकल्पानुभव बुद्धि जनित नहीं है, उसका एकमात्र निमित्त वाक् शक्ति ही है। अनन्त किस प्रकार विकल्पज्ञान के द्वारा माया को शुद्ध करके जगत् की सृष्टि करते हैं- यह बात पूर्वोक्त वर्णन से हृदयङ्गम हो सकती है।

इस सविकल्पक ज्ञान से अनन्त के कर्तृत्व का एक दूसरी प्रक्रिया से भी उपपादन किया जाता है। परन्तु उस प्रक्रिया का सर्वत्र समादर न होने के कारण यहाँ उसका वर्णन नहीं किया जाता।

बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा भेद से चार प्रकार की है। अणु अर्थात् इन वृत्तियों की सत्ता रहती है। इन वृत्तियों के भेद से किसी का ज्ञान उत्कृष्ट, किसी का मध्यम और किसी का अपकृष्ट माना जाता है। इनको अतिक्रम करने से पुरुष को शिवत्वलाभ अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इससे पहले नहीं।

शैव तथा शाक्ताद्वैत सिद्धान्तों का बहुत अंशों में सादृश्य है। पहले हमने जिस द्वैतदृष्टि की आलोचना की है, उससे अद्वैत दृष्टि का किसी-किसी अंश में मतभेद है। किन्तु यहाँ उनका विशेष विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। इस मत के अनुसार आत्मा चित् अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। उसकी विमर्शरूपा शक्ति उससे अभिन्न है। यह शक्ति वाक् रूपा है। इसकी परावस्था का 'पूर्णाहन्ता' नाम से वर्णन किया जाता है। इसका स्वरूप सर्वदा प्रकाशमय महामन्त्रात्मक है, जिसके गर्भ में अकार से लेकर क्षकारपर्यन्त समस्त शक्तिचक्र निहित है। परावाक् पश्यन्ती आदि क्रम से उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमियों को प्रकाशित करती है। वस्तुतः आत्मा अपनी शक्ति से ही विमोहित होकर अपने पञ्चकृत्यकारित्व को मानो भूले रहता है। इसका मूल उसकी अपनी इच्छा या स्वातन्त्र्य है। फिर जब स्वेच्छा से अर्थात् शक्तिपात के प्रभाव से उसका बल उन्मीलित होता है उस समय वह पूर्ण सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वादिरूप अपने पारमेश्वरिक स्वभाव में सदा के लिये स्थित हो जाता है।

आणवादि तीन प्रकार का मल संकुचित ज्ञानात्मक ही है। इसके द्वारा जिस परिच्छिन्न श्रेयपदार्थ का भान होता है वह भी वस्तुतः ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। अ से लेकर क्ष तक मातृका या वर्णो से ये सब ज्ञान अधिष्ठित हैं। वर्णो से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है, इसलिये तन्त्रों में इन्हें विश्वजननी मातृकारूप से वर्णन किया गया है। अज्ञात रहने पर ये सब बन्धन का कारण होती है, परन्तु सम्यक् प्रकार से ज्ञान का विषय होने पर इन्हीं से परासिद्धि की भी प्राप्ति होती है। मलात्मक ज्ञानत्रय चाहे निर्विकल्प हो चाहे सविकल्प, दोनों ही अवस्था में शब्दानुविद्ध रहता है। मातृकाओं के प्रभाव से तत्तत् ज्ञान तत्तत् शब्दों के अनुबोध द्वारा हर्ष शोक प्रभृति विभिन्न भावों का आकार धारण करते हुए अष्ट वर्ग, निवृत्त्यादि पञ्च कला तथा कलादि छः अध्वाओं

की अधिष्ठात्री ब्राह्मी प्रभृति शक्तिकोटि में भासमान होते हैं। अम्बिकादि शक्तिमण्डल का प्रभाव भी इनपर पड़ता है। मातृकाओं के अधिष्ठान से ही ज्ञान में अर्थात् पूर्णाहन्ता में अभेदानुसन्धान का लोप होता है और ज्ञानसमूह प्रत्येक क्षण में बहिर्मुख होकर बन्धन के हेतु होते हैं।

अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा– ये चार शक्तियाँ सब शक्तियों की कारण हैं। अकारादि मातृका ही कला देवी रश्मि आदि विभिन्न नामों से कही जाती हैं। ये सब स्थूल वर्णरूप में तथा पद और वाक्यों की योजना से अनेक प्रकार के लौकिक एवं अलौकिक शब्दरूप में परिणत हो जाती हैं। इन कलाओं के प्रभाव से पशुओं का ज्ञान शब्दानुविद्ध होने के कारण कहा जाता है कि पशु कलाओं के अधीन अथवा उनका भोग्य है। इन्हीं के प्रभाव से जो ज्ञानाभाव अथवा आणव, मायीय एवं कार्म मल उत्पन्न प्रभाव से जो ज्ञानाभास अथवा आणव, मायीय एवं कार्म मल उत्पन्न होता है उसके द्वारा पशु का अपना विभव अर्थात् ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। 'मैं अपूर्ण हूँ' यह ज्ञानाभास 'मायामल' है तथा 'मैं यज्ञादि करता हूँ' इस प्रकार का ज्ञानाभास 'कर्ममल' कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब अनावृत प्रकाश ही जगत् का स्वभाव है तो बन्धन का आविर्भाव कहाँ से होता हैं, क्योंकि अद्वैतमत में चित्प्रकाश को छोड़कर तो दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। इस प्रश्न के समाधान में आचार्यों का कथन है कि परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से सबसे पहले अपने स्वरूप को आच्छादित करने वाली महामाया शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। इसके कारण आकाशवत् स्वच्छ आत्मा में संकोच का आविर्भाव होता है, जो अनाश्रित अथवा शिवतत्त्व से लेकर माया प्रमाता तक सर्वत्र व्यापक है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की हानि ही इस संकोच का स्वरूप है। वस्तुतः यह अभिन्न परमेश्वर भाव का अस्फुरण है। इसी का नाम अपूर्णमन्यता या आणव मल है। इसी को अज्ञान भी कहा जाता है। आगम की परिभाषा में इसे अख्याति भी कहते हैं, जिसका स्वरूप आत्मा में अनात्म भाव का अभिमान है। यह अज्ञानात्मक ज्ञान तो बन्धन है ही परन्तु अनात्मा में आत्माभिमानरूप अज्ञानमूलक ज्ञान भी बन्धन ही है। इसलिये आणव मल दो प्रकार का है–

(१) चिदात्मा में स्वातन्त्र्य का अप्रकाश अर्थात् अपूर्णमन्यता यह मल विज्ञानाकल पशु में रहता है।

(२) स्वातन्त्र्य रहते हुए भी देहादि अनात्माओं में अबोधात्मक आत्माभिमान।

विश्व कारण माया है, जिसका नामान्तर योनि है। उससे होने वाले कला से लेकर पृथिवीपर्यन्त तत्त्वसमूह, जिनसे कि विभिन्न भुवन देह एवं इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति होती है, मायामल हैं। इसको आश्रय करके जो शुभाशुभ कर्मों का अनुष्ठान होता है यह वह कार्म मल है। कलादि तत्त्व आणव मल की भित्ति से सम्बद्ध होकर ही पुरुष का आच्छादन करते हैं, इसलिये ये मलपदवाच्य हैं।

मलत्रय और कलासमूह की अधिष्ठात्री मातृकाशक्ति है– यह बात पहले कही जा चुकी है। इसमें अभेदज्ञान की अधिष्ठात्री अघोराशक्ति है, जिसके प्रभाव से भीतर बाहर आत्मभाव की स्फूर्ति होती है। तथा भेदज्ञान की अधिष्ठात्री घोराशक्ति है। जिससे बहिरुन्मुखभाव और स्वरूप का आवरण होता है।

परावाक् प्रसृत होकर पहले इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप को प्राप्त होती है, उसके पश्चात् उसका पञ्चाशत् मातृकागण में परिणाम होता है। इनमें स्वरवर्णो में बीज अथवा शिवांश तथा व्यञ्जनों में योनि अथवा शक्त्यंश प्रबल रहते हैं। ये वर्ण तत्तत् प्रमाता में सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों ही अवस्थाओं में अन्तःपरामर्श के द्वारा स्थूल एवं सूक्ष्म शब्दों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार वर्गादि के देवताओं के अधिष्ठान से राग-द्वेष, सुख-दुःख, भय आदि की स्फूर्ति होती है, और संकोचहीन स्वतन्त्र चिद्घन आत्मा का स्वरूप आच्छन्न होकर परिच्छिन्न एवं परतन्त्र देहादिमयभाव का आविर्भाव होता है। ये सब महाघोरा पशुमातृका शक्तियाँ भेदज्ञान उत्पन्न करती हैं, और ब्रह्मग्रन्थि के आश्रय से विद्यमान रहती हैं। पशुओं के अधःपतन की मूल कारण में ही हैं। तत्त्वलाभ करने पर भी जबतक पुरुष सम्यक्तया प्रमादहीन नहीं होता तबतक इन सब शक्तियों से शब्दानुवेध पूर्वक मोहगर्त में गिराये जाने की आशङ्का रहती ही है।

प्रकाश तथा विमर्श के विषय में संक्षेप में और भी दो एक बात कहना उचित जान पड़ता है। सृष्टि आदि समस्त व्यापारों के मूल में प्रकाश तथा विमर्श दोनों ही की सत्ता रहती है यह प्रसिद्ध है। पराशक्ति स्वातन्त्र्य के उन्मेष से जिस समय अन्तर्लीन अवस्था छोड़कर अभिव्यक्त होती है उसी समय विश्वरूप चक्र का आवर्तन होता है। वस्तुतः अभिव्यक्ति शक्ति या विमर्श की ही होती है, प्रकाश में तो उसका उपचार मात्र होता है। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि तत्त्वमात्र ही शक्ति के स्वातन्त्र्योल्लास की अवस्था विशेष है। इसलिये शिवतत्त्व भी तत्त्व होने के कारण शक्तिकोटि में गिना जाता है। अतः प्रकाश और विमर्श एक प्रकार से परमविमर्श के ही रूप भेद मात्र हैं। शुद्ध प्रकाश अनुत्तर, विश्वोत्तीर्ण तथा तत्त्वातीत है। विमर्श उसमें अन्तर्लीन रहता है। इसलिये तत्त्वों का विचार करने के प्रसङ्ग में प्रकाश एवं विमर्श दोनों ही विमर्शात्मक अथवा शक्त्यात्मक होने के कारण उनमें अंशकल्पना की जाती है।

वामकेश्वरतन्त्र के मत से प्रकाश के चार अंश हैं और उससे अविनाभूत विमर्श के भी चार ही अंश है। प्रकाशांशों के नाम अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री हैं तथा विमर्शों के नाम शान्ता, इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। अम्बिका तथा शान्ता की सामरस्यावस्था में शान्ताभावापन्ना पराशक्ति परावाक् नाम से प्रसिद्ध है। यह आत्मस्फुरण की अवस्था है।

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता।।

इस आत्मस्फुरण की अवस्था में समग्र विश्व बीजरूप में अर्थात् अस्फुटरूप में आत्मसत्ता में वर्तमान रहता है। इसके बाद शान्ता से इच्छा का उदय होने पर वह अव्यक्त विश्वशक्ति के गर्भ से निकलता है। इच्छाशक्ति उस समय वामाशक्ति से तादात्म्यलाभ करती है और पश्यन्ती वाक् नाम से परिचित होती है। इसके पश्चात् ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। शानशक्ति ज्येष्ठा के साथ अभिन्न है और मध्यमा वाक् नाम से परिचित है। यह शक्ति सृष्ट विश्व की स्थिति का कारण है। ज्ञान के अनन्तर क्रियाशक्ति रौद्री के साथ एक होकर वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। प्रपञ्चात्मक वाग्वैचित्र्य वैखरी का ही स्वरूप है।

यह चार प्रकार की वाक् परस्पर मिलकर मूल त्रिकोण अथवा महायोनि के रूप में परिणत होती है। शान्ता और अम्बिका का सामरस्य अर्थात् परावाक् ही इस त्रिकोण का बिन्दु या केन्द्र है। यह नित्य स्पन्दमय है। पश्यन्ती इसकी वाम रेखा है, वैखरी दक्षिण रेखा है और मध्यमा सरल अग्ररेखा (Base) है। मध्यस्थ महाबिन्दु ही अभिन्न विग्रह शिव और शक्ति का आसन है। यह त्रिकोणमण्डल चित्कला के प्रभाव से उज्ज्वल है। इसके बाहर क्रमविन्यस्तरूप से शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति- इन पाँच कलाओं का आभामय स्तर विद्यमान है। इन स्तरों की समष्टि ही जगत् का रूप है। अतएव भूपुर से महाबिन्दुपर्यन्त विस्तृत समस्त विश्वचक्र ही उस महाशक्ति का विकास है। मध्यत्रिकोण बिन्दुविसर्गमय है- इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसकी प्रत्येक रेखा ही पञ्चस्वरमय है। ('अ' से 'अं' तक) पञ्चदशस्वरात्मक इस त्रिकोणमण्डल का बिन्दुस्थान विसर्ग (अः) कलाओं से आक्रान्त है। इस त्रिकोण के स्पन्दनों से अष्टकोण कल्पित होते हैं। यह रौद्री शक्ति का रूप है और शान्त्यतीत कला से उज्ज्वल रहता है। इसका प्रत्येक स्तर ही प्रकाश तथा विमर्शमय अर्थात् शब्द और शब्दमय है। तत्तत् वर्ण (वाचक) और तत्तत् तत्त्व (वाच्य) का तादात्म्य तत्तत् चक्रांश में प्रत्यक्ष वर्णमाला तथा शिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त तत्त्वसमूह अभिव्यक्त होते हैं। साधक जिस समय कुण्डलिनी के जागरण के बाद उत्तरोत्तर ऊपर की ओर उठने लगते हैं, अथवा इष्ट देवता के स्वरूपभूत चक्र के भीतर प्रवेश करने लगते हैं, उस समय वस्तुतः इस विश्वचक्र में ही उनकी यात्रा चलती है। अकुल से महाबिन्दुपर्यन्त विस्तृत महामार्ग के भीतर जितने अवान्तर चक्र हैं, उनकी समष्टि ही विश्वचक्र है। इसमें अकुल से आज्ञाचक्रपर्यन्त अंश सकल और आज्ञाचक्र से ऊपर बिन्दु से उन्मनापर्यन्त अंश सकल निष्कल एवं उन्मना के बाद महाबिन्दु अंश निष्कल है। वस्तुतः यह महाबिन्दु ही विश्व का हृदय है- यही विश्वातीत परमेश्वर अथवा शिव शक्ति का आविर्भावस्थान या आसन है।

वस्तुतः महाबिन्दु ही शवरूपी सदाशिव है, जिसके ऊपर चित्कला अथवा चिच्छक्ति स्वातन्त्र्यमयी होकर खेलती है। यह खेल परावाक् परमात्रा का विलास है। शुक्ल तथा रक्त बिन्दु रूप प्रकाश-विमर्शात्मक काम कलाक्षर के परस्पर संघट्ट से चित्कला की अभिव्यक्ति होती है। महाबिन्दु के स्पन्दन से तीनों विलीन बिन्दु अलग-अलग होकर रेखारूप में परिणत हो महात्रिकोण का आकार धारण करते है। इसीसे शिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों से बने हुए समस्त विश्व का आविर्भाव होता है।

इस महात्रिकोण में चार पीठ हैं। प्रत्येक पीठ में ही विश्व का रूप भासमान होता है। स्वरूप से उसका भान बीज रूप से होता है और बाहर सृष्टि रूप से । 'पीठ' शब्द से प्रकाश और विमर्श की मात्राओं का साम्यभाव समझना चाहिये। जैसे अम्बिका और शान्ता शक्तियों का सामरस्य कामरूप पीठ है इसी प्रकार अन्यान्य पीठ भी समझने चाहिये। कामरूप पीठ पीतवर्ण चतुष्कोण के आकार में आधारस्थान में दीख पड़ता है। इसका दूसरा नाम मन है। इसमें जब बिन्दु चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उसे स्वम्भूलिङ्ग कहते हैं। वस्तुतः यह पीठ महात्रिकोण का अग्रकोणस्वरूप है। इसी प्रकार त्रिकोण के अन्य दो कोण पूर्णगिरि एवं जालन्धर पीठ नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें प्रतिफलित होने वाला चैतन्य इतरलिङ्ग और बाणलिङ्ग कहलाता है। ये दोनों बुद्धि और अहंकार के ही नामान्तर हैं। देह में इनके स्थान हृदय और भ्रूमध्य हैं। मध्य बिन्दु उड्डीयान या

श्रीपीठ है। यह चित्त स्वरूप है। इसमें जो ज्योति प्रतिबिम्बित है, उसका नाम परलिङ्ग हैं। इनमें से प्रत्येक प्रतिलिङ्ग निर्दिष्ट संख्या वाले वर्णों से घिरा हुआ है, परन्तु परलिङ्ग सभी वर्णों से वेष्टित है। यह परलिङ्ग ही परमपद से प्रथम स्पन्दरूप में उदित होता है।

शिव-शक्ति या मल का अहंपरामर्श पूर्ण और स्वाभाविक है। इसलिये इसे 'पूर्णाहन्ता' कहते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप है। स्वातन्त्र्य से इसमें विभाग का आविर्भाव होता है। पूर्णाहन्ता या परावाक् विभागदशा में ही पश्यन्त्यादि तीन रूप धारण करती है, जिसके प्रत्येक रूप में स्थूल, सूक्ष्म तथा पर भेद से तीन-तीन अवस्थाएँ हैं। परमतत्त्व परमेश्वर प्रकाशस्वरूप होने पर भी उसका मुख्य तीन शक्तियों के भेद के कारण ऐसा विभाग हो जाता है। मुख्य तीन शक्तियाँ हैं-

(१) परा अथवा अनुत्तरा - इसीका नाम चित् शक्ति है।
(२) परापरा- इसीका नाम इच्छा शक्ति है।
(३) अपरा- इसीका नाम उन्मेषरूपा ज्ञान शक्ति है।

इन तीनों का अभिन्न स्वरूप ही परमेश्वर की पूर्णाशक्ति है। इसमें अनुत्तर अथवा चित् 'अ' है, इच्छा 'इ' है और उन्मेष अथवा ज्ञान 'उ' है। यह शक्तित्रय ही अ इ उ नामक त्रिकोण है। इनके क्षुब्धरूप लेकर शक्तियों की संख्या छः होती है। अ के क्षोभ से आ, इ के क्षोभ से ई और उ के क्षोभ से ऊ होता है। आ आनन्द का, ई ईशान का और ऊ ऊनत्व का वाचक है। आनन्दादि शक्तिनिचय क्षुब्ध होने पर भी अपने स्वरूप से स्खलित नहीं होते। इसलिये ये मलिन नहीं होते। इसी कारण ये सब शक्तियाँ पारस्परिक संघट्ट से अन्यान्य शक्तियों को प्रकट कर सकती हैं। ये छः स्वर ही वर्णसन्तति के मूल हैं। ये षड्देवता और सूर्य की मुख्य षड्रश्मि नामों से प्रसिद्ध हैं। इन छः शक्तियों का पारस्परिक संघर्ष ही क्रियाशक्ति है, जिससे बारह शक्तियों का विकास होता है। ऋ ॠ लृ लॄ ये चार स्वर नपुंसक हैं। इनसे सृष्टि नहीं होती। सम्पूर्ण शक्तियाँ उक्त बारह शक्तियों के ही अन्तर्गत हैं। यही प्रधान शक्तिचक्र है, जिससे समन्वित रहने के कारण शिव को पूर्णशक्ति कहा जाता है। ये सभी शक्तियाँ प्रक्षीणमल शुद्ध और उद्रिक्त चैतन्य हैं। इनके ज्ञान-क्रियात्मक सामर्थ्य में किसी प्रकार का आवरण नहीं है। चौंसठ योगिनियाँ इन बाहर शक्तियों से ही उत्पन्न हुई हैं। इनकी समष्टि अघोरा शक्ति है। घोरा और घोरतरा शक्तियाँ इसीसे प्रादुर्भूत होती हैं। सृष्ट्यादि क्रममें इन बारह शक्तियों के पृथक् पृथक् रूप हैं। अनाख्याक्रम में भी इनके पृथक्-पृथक् रूपों का पता लगता है। जिस क्रम में सृष्टि आदि उपाधि नहीं है, उसी का नाम अनाख्या है। इसका तात्पर्य यह है कि निरुपाधिकरूप सृष्टि में भी यह विभाग विद्यमान है।

यह जो स्वरूपगत उपाधिहीनता की बात कहीं गयी है, दो प्रकार से सम्भव है- (१) उपाधियों के अनुल्लास के कारण और (२) उपाधियों के उपशम के कारण। उपाधियों का उपशम पाक से ही होता है। तान्त्रिक आचार्यगण मधुरपाक और हठपाक भेद से दो प्रकार के पाक स्वीकार करते हैं। जो लोग गुरु आदि की आराधना करके समयी एवं पुत्रकादि दीक्षा सम्पादन करने के बाद नित्य-नैमित्तिक प्रभृति कर्मों में निष्ठा रखते हैं, वे देहपात होने पर सृष्टि प्रभृति उपाधियों से मुक्त हो सकते है। इन उपाधियों का प्रशमन स्वाभाविक

नहीं होता, उसे शास्त्रोपदेशादि की अपेक्षा है। यह उपाय धीरे-धीरे देह पात के अनन्तर उपाधि का नाश करने में समर्थ होता है। परमेश्वर का शक्तिपात तीव्र न होने से ऐसा ही होता है। और जिनके ऊपर भगवत्कृपा की मात्रा अधिक होती है, अर्थात् जिनमें तीव्र शक्तिपात होता है, वे केवल एक बार ही उपदेश प्राप्त करके उपाधि से मुक्त हो जाते हैं। इस क्रम से सृष्टि आदि तीनों उपाधियाँ सर्वथा चिदग्नि में भस्म हो जाती हैं, अर्थात् वे अचिद्भाव को छोड़कर आत्मशक्ति के स्फुरणरूप में प्रतिभात होने लगती हैं। इसका क्रम इस प्रकार है- 'ज्ञानाग्नि के उद्दीपन के अनन्तर इस प्रकार के पाक से सृष्टि आदि पदार्थगत भेद छूट जाता है। उस समय विश्व अमृतमय हो जाता है, अर्थात् उसे बोध के साथ तादात्म्य प्राप्त होता है। इस अमृतरूप विश्व को पूर्ण वर्णित (अ, आ इत्यादि) बारह शक्तियाँ अथवा करणेश्वरी भोग करती हैं। अर्थात् वे परबोध अर्थात् परमेश्वर के साथ अभिन्न रूप में परामर्शन करती हैं, क्योंकि ये शक्तियाँ अघोरा शक्ति की ही प्रकाशस्वरूपा हैं। इस भोग से उन शक्तियों (देवियों) की तृप्ति होती है। उस समय उनको दूसरे के प्रति अपेक्षा या आकाङ्क्षा नहीं रहती और वे हृदयस्थ द्योतनमात्र स्वरूप परप्रकाश या परम तत्त्व के साथ अभेदरूप से स्फुरित होने लगती हैं।' ये समस्त शक्तियाँ परमेश्वर के रूप में विश्रान्त हैं- उससे अभिन्न हैं। परन्तु इस प्रकार अभेद रहने पर भी कृत्य, क्रियावेश, नाम तथा उपासना के भेद से ये भिन्न-भिन्न रूप से भासित होती हैं। इस शक्तियों के संकोच विकास दोनों ही होते हैं। इसलिये ये संख्या में बारह होने पर भी एक ओर जिस प्रकार सब मिलकर एक हो सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर करोड़ों विभिन्न रूपों में आविर्भूत हो सकती हैं।

ऊपर संक्षेप में जो कुछ लिखा गया है उससे तान्त्रिक दृष्टि का किञ्चित् परिचय मिल सकेगा। यह विषय इतना विशाल और जटिल है कि इसका पर्याप्त विवेचन करने के लिये पत्रिका का परिमित कलेवर पर्याप्त रहीं है। जो लोग इस विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें अनुसन्धान करने पर शास्त्र में ही सब प्रकार के प्रश्नों का स्पष्ट समाधान मिल सकता है। यहाँ जो विवरण दिया गया है उससे तान्त्रिक साधनप्रणाली के समझने में कुछ सहायता मिल सकती है। यहाँ वैष्णव आगमों के समालोचन का अवसर नहीं मिला। परन्तु स्थूलतया कहा जा सकता है कि वे भी द्वैत आगम के ही अन्तर्गत हैं। उनकी दृष्टि भी प्रायः उसी प्रकार की है। प्रस्थानगत तथा बाह्य उपाधिगत वैचित्र्य तो अवश्य ही है। परन्तु वह सुगमता से समझ में आ जाता है। विशुद्धसृष्टि, मन्त्रानुशीलन और दीक्षा प्रभृति का उपयोग वैष्णव आगम में भी स्वीकार किया गया। आशा है, अनुसन्धानेच्छु पाठक स्वयं ही मूल ग्रन्थ का विश्लेषण करके इस विषय में तत्त्वग्रहण करने का प्रयत्न करेंगे।

❑

शक्तिसाधनाया दार्शनिकं स्वरूपम्

आचार्यो बदरिप्रसादशास्त्री

अखिलनिगमागमसाहित्ये प्राणिनां त्रिविधदुःखध्वंसाव्यवहितोत्तरशाश्वतसुखोपलब्धिरेवेष्टसाधनताफल-मुच्यते। तत्र कृतिसाध्यता सध्रिचीना साधना सा च पुनः कर्मज्ञानान्यतरयोगानुकूलोपास्यप्रेमप्रधानावलोक्यते। कर्मज्ञानयोगयोरपि भेदाः श्रौतस्मार्ततान्त्रिकमिश्रेति प्रस्थानभेदाद्दृग्गोचरतामुपयान्ति।

एवमुद्दिश्य साधनाभेदान्, आदौ प्रकृतं साध्यपदार्थं विचारयामः। साध्यमुपास्यं परमात्मपदार्थं षोढा वदन्ति। शिवशक्तिसूर्यगणेशविष्णुनिर्गुणनिराकारसच्चिदानन्दमयज्योतिःपुञ्जं ब्रह्मेति षट्स्वप्यभ्यर्हितत्वात् सर्वत्र भगवती शक्तिरेवानुस्यूता विराजते। यथाह भगवती श्रुतिः—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (६/७)

अस्या अयम् अर्थः— अस्य परमात्मनो विविधं परमं शक्तिरूपं सामर्थ्यं ज्ञानबलक्रियात्मकं स्वाभाविकं श्रूयते। अत्रेदं तात्पर्यं—निरतिशयसाम्यस्य परमात्मनोऽपि शक्तिं विनाऽकिञ्चित्करत्वमेवावसीयते। अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणीभूता ज्ञानशक्तिः नियमनस्वरूपा सकलप्रपञ्चनियामिका बलशक्तिः, समस्तस्थूलजगत्प्रपञ्चस्योत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणीभूता क्रियाशक्तिः, सोऽयं त्रिविधोऽपि शक्तिपदार्थः त्रिगुणात्मको निर्गुणश्चेत्येवं विविधोऽपि शक्तिपदार्थोऽयं परमात्मनि समवेतः। मन्त्रमिमं विवृण्वन् भगवच्छङ्कराचार्योऽन्येऽपि केचनान्यसम्प्रदायाचार्या उपेक्षणीया एव भवन्ति। अत एव तु — परमात्मा सर्वशक्तिः सर्वेश्वरोऽपि च **'स कारणं करणाधिपाधिपः'** (६/९) इति श्रुतिं कृतार्थयति।

ननु यथा तन्तुसमवेते पटे तन्तुसमवायनिरूपिता जन्यता तथैव उक्तशक्तिसमवेते परमात्मनि समवाय-निरूपिताजन्यताऽऽख्यो दोष आपतति। अत्रोच्यते—शक्तिः शक्तिमान् तयोः सम्बन्धश्चेति त्रयोऽपि सिद्धपदार्थाः सिद्धत्वादेव न हि परस्परं कार्यकारणभावं सहन्ते। अत एव नित्यसमवेता एव।

ननु द्रव्यादिपदार्थसप्तकातिरिक्तः कोऽयं शक्तिपदार्थ इति चेच्छृणु नैकोऽपि दार्शनिकः स्वदर्शनभिन्नदर्शनपराधीनः वयं मीमांसकाः स्वदर्शनानुसारं शक्तिमतिरिक्तं पदार्थं मन्यामहे, — न शक्तिः प्रतिबन्धकतामात्मनि सहते। अर्थान्नहि प्रतिबन्धकाभावरूपा साऽभावान्तर्भूता नातिरिक्तः कश्चिच्छक्तिपदार्थ इति चेन्न, वस्तुनिष्ठ आश्रितो वा स्वाभाविकवस्तुसामर्थ्यरूपः स्वतन्त्रपदार्थः, अविकृते स्वाभाविके वस्तुस्वरूपे

दृश्यमानेऽपि तत्सामर्थ्यं परिवर्तमानं दृश्यते। इत्येवं सामर्थ्यसामर्थ्यवतोर्भेदः प्रत्यक्ष एव प्रतीयते। तादात्म्येन तयोरभेदोऽपि स्वाभाविकः प्रत्यक्षः। अत्रेदं रहस्यं शक्त्याराधने शक्तिमदभिन्नः शक्तिसाक्षात्कारात्, शक्तिमदाराधने च शक्त्यभिन्नशक्तिमत्साक्षात्कार उपासकानुभवगम्यो युगलरूप एव योगजप्रत्यक्षतामुपैति। अत एव 'आत्ममिथुन' इति छान्दोग्यश्रुतिरपि चैकमेव परमात्मतत्त्वं शक्तिशक्तिमद्रूपं युगलाकारमनुभवगम्यं वदति। तथापि—

व्यवहारकाले शक्तिशक्तिमन्तावुभावपि प्रत्येकं पदार्थत्वं न जहितः। ननु किमिदं पदार्थत्वम्? इति जिज्ञासायां पदार्थत्वं सामान्यार्थप्रदर्शनपूर्वकं तत् परीक्ष्यते। पदस्यार्थः पदार्थः, अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् इत्यन्नंभट्टाः। अथवा तर्क्यन्ते द्रव्यादयः पदार्थाः ज्ञायन्तेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ज्ञेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् इत्यन्ये। औपनिषदास्तु—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

कठोपनिषद् १.२.१५

मन्त्रे सङ्ग्रहेण पारमार्थिकव्यावहारिकरूपेण यत् 'पदं' तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन च विविदिषन्ति तद् 'ॐ' इति ब्रवीमि उपदिशामीति मन्त्राशयः। परमं पदं ब्रह्माख्यं चैतन्यं पदार्थं वदन्ति। इत्थं सर्वपथीनजिज्ञासा-सध्रिचीनं पदार्थतत्त्वं परिष्क्रियते—

पदनिष्ठशक्तिनिरूपकत्वं 'पदार्थत्वम्'। यत्किञ्चिन्निष्ठनिरूप्यतानिरूपित-रूपकतावत्त्वं निरूपकत्वम् इति निरूपकत्वलक्षणानुसारं पदं पारमार्थिकं विशुद्धं ब्रह्मचैतन्यं, व्यावहारिकश्च, घटपटादिकम् इत्युभयं, तन्निष्ठा शक्तिः बोधकताख्या पारमार्थिकी व्यावहारिकी ज्ञानमयी शक्तिः, यथाह श्रुतिः — **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** एतादृशशक्तिनिरूपकत्वं पदार्थत्वम्। इदं पदार्थतत्त्वं हृदयङ्गमङ्कृत्वा परिष्कारं विचारयन्तु विद्याचणा विचक्षणाः।

पदनिष्ठशक्तिनिरूपकत्वं पदार्थत्वम्, इति लक्षणे व्यावहारिकदृष्ट्या पदशब्दः सामान्यरूपेण समुपात्तः। अतोऽत्र घटः पटपदार्थः स्यात् पटो घटपदार्थश्च स्यात् इति नाशङ्कनीयम्, तत् तत् पदनिष्ठशक्तिनिरूपकत्वं नामात्र पदनिष्ठशक्तिनिरूपकत्वं लक्षणदले बोध्यम्। तत्पदञ्चेह बुद्धिविशेषविषयत्वोपलक्षितवक्तृजिज्ञासितधर्मावच्छिन्ने शक्तं बोध्यम्। न हि तादृशः शङ्कावसरः।

न च समूहालम्बनात्मके ज्ञाने, अन्य पदस्याऽन्यपदार्थरूपं साङ्कर्यं स्यादिति वाच्यम्, तत् तत् पदनिष्ठवृत्तिज्ञानाधीनवृत्तिविषयकज्ञानत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतानिरूपितनिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्ना या अवच्छेदकता तादृशावच्छेदकतानिरूपिता या अवच्छेद्यता तादृशावच्छेद्यतावती या विषयता तादृशविषयताश्रयत्वं पदार्थत्वमित्थं सिद्धान्तिलक्षणे क्वापि दोषाभावात्।

ननु नेदं सिद्धान्तलक्षणं, तत्तत्पदनिवेशेऽपि दोषस्तदवस्थ एव। तत्तत्पदस्य सामान्यार्थकत्वात्, एकस्मिन् काले या बुद्धिः तदपरकाले यो विषयः तस्यापि बोधप्रसक्तेः। इतश्च — अन्यपुरुषबुद्धौ विषयः, अन्यपुरुषस्य

च शाब्दबोधः स्यात्। लक्षणे स्वोच्चारणानुकूलतत्तत्कालिकेति निवेशेऽपि स्वपदस्य तत्तद्व्यक्तिपरतया लक्षणाननुगम इति चेन्न, तत्तत्पदविशिष्टबोधो भवतु। इत्येवं बोधविशेष्यकः सङ्केतः स्वीकर्तव्यः। वैशिष्ट्यञ्च स्वोच्चारणानुकूलबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नविषयकत्वं स्वजन्यत्वम् इत्युभयसम्बन्धेन तत्तत्पदत्वादिरूपा या तकारोत्तरतकाररूपा पदानुपूर्वी तादृशानुपूर्वी विशेषेणैव तदादिपदानां सङ्केतविषयता बोध्या, सा चानुपूर्वी सर्वेषु तदादिपदेष्वनुगतरूपैवेति न पदव्यक्तिभेदेन शक्तिभेदः कल्पनीयः।

इत्थं परिष्कृतं पदार्थतत्त्वं दशविधमिति मीमांसकाः, शक्तिः शक्तिमाँश्चेति द्वौ पदार्थावित्यौपनिषदाः, तयोरभेदस्तु–शक्तेरभ्यर्हितत्वात् बोध्यः। यथाऽऽहुः— **'शक्तिसापेक्षा शक्तिमत्सत्ता'** अतः शक्तेरेव भूमत्वं, सैव भूमविद्या छान्दोग्येऽतिप्रशस्तोक्ता। अत एव—**'भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः'** इति श्रुतिः। अत्र वैयाकरणदर्शनमप्यनुकूलम्। 'तदस्यास्मिन्निति मतुप्' सूत्रे 'इतिः'–करणो विषयविशेषलाभार्थः, इति *प्रौढमनोरमायां* भाष्यतत्त्वविदो दीक्षितमहाभागा आहुः। भूमत्वे मतुप् शक्तेर्भूमत्वात् तद्वति मतुब्विधीयते।

सम्बन्धसामान्यं तद्धितप्रत्ययार्थः। अतः शक्तिनिरूपितसम्बन्धसामान्यमहिम्नैव परमात्मनि जगदुत्पत्तिस्थितिलय–कारणत्वं घटते। कारणत्वञ्चाऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वम्। किन्त्वत्राऽभेद औपचारिकः। यथा—त्रिमुनिव्याकरणम्, इत्यादौ विद्यातद्वताम–भेदोपचारवत्। वस्तुतस्तु—अभेदस्यैव वास्तविकत्वात् शक्तेरेवेहाऽभ्यर्हितत्वं स्पष्टम्। तस्या एव जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयेष्वभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात्। यथाह केनश्रुतिः—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं सा होवाच किमेतत् यक्षमिति। खं. ३ मं. १२

स इन्द्रः तत्रैवाकाशे यत्र यक्षं ददर्श तत्रैव बहुशोभमानां हैमवतीमुमां स्त्रियं ब्रह्मशक्तिमाजगाम ज्ञातवान् इत्यर्थः। तां भगवतीं पराशक्तिमुवाच प्रपच्छ, एतद् इदानीं दृष्टपूर्वं यक्षं किमासीत् अत्रैदं हार्दम् — यक्षरूपं ब्रह्मैव स्व सामर्थ्यरूपां शक्तिं स्त्रीरूपिणीमिन्द्रं दर्शयामास। सैव च स्वाश्रयं ब्रह्म पर्यचीचयत्। इत्थमभिधामूलव्यञ्जनावृत्तिरूपसमाधिभाषया ब्रह्म तच्छक्तिं चात्मानं परिचाययन्ती भगवती श्रुतिः स्वसमवेतं यद्वा स्वसङ्गतं युगलब्रह्मैव सार्वभौमं जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणं, तदेवाखिलमङ्गलमयं सदा स्तुध्वम्, इति देवान् जीवत्वोपलक्षकान् सस्नेहं समुपदिशतीति तात्पर्यमभिव्यञ्जयते (श्रौततत्त्वम्) अत्रान्यो विशेषोऽपि वेदितव्यः सर्वसामर्थ्यस्वरूपा भगवतीशक्तिः स्वतन्त्रः पदार्थः तादृशशक्तिमान् ब्रह्माख्यः परमात्मापि स्वतन्त्रः पदार्थः। अत एव पूर्वमीमांसायां शक्तिः आत्माऽपि स्वतन्त्रः पदार्थ इत्युच्यते। तयोर्न समवायो न च संयोगः लक्षणासङ्गतेः द्वयोः स्वतन्त्रसत्ताकत्वसत्त्वान्न समवायलक्षणं सङ्घटते। एवमेव–संयोगस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वात् शक्तिशक्तिमतोः संयोगोऽपि न सिध्यति। उभयोरुभयत्र व्याप्यवृत्तित्वाभ्युपगमात्। अत एव संयोगसमवायविलक्षणोऽविनाभावलक्षणः सम्बन्धः तयोरभ्युपगम्यते। एष एव सहावस्थानलक्षणः। अत एव द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्त्यभावाः षट्पदार्था इति मीमांसकाः भट्टानुयायिनः, द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्ति–संख्यासादृश्यरूपान् अष्टौ पदार्थान् प्राभाकराः मन्यन्ते। उभयथाऽपि शक्तिपदार्थो मीमांसकाभिमत इति नास्ति संशयलेशः। यथाहुः तत्र *सिद्धान्तरत्नावल्यां* म. म. श्रीचिन्नस्वामिमहाभागाः — "अथ शक्तिः। सापि

पदार्थान्तरम्। सा च लौकिकवैदिकभेदेन द्विविधा। आद्याऽग्न्यादिगता दाहकत्वादिशक्तिः। द्वितीया तु यागादीनां स्वर्गादिसाधनत्वशक्तिः उभयमप्यर्थापत्त्या कल्प्यते। तथा हि— सत्सु अपि बीजादिष्वङ्कुरार्पणसमर्थेषु तेषां मूषिकाघ्राणेऽङ्कुरोत्पत्तिर्न दृश्यते। तदन्यथानुपपत्त्या चैवं कल्प्यते—अवश्यमस्त्यतीन्द्रियमपि बीजादेः किञ्चिद् रूपं यस्य विनाशाद् अङ्कुरानुत्पत्तिरिति। तदेव शक्तिरित्युच्यते।

न च घ्राणाभावस्यैव कारणत्वमस्तु। किम् अतिरिक्तकल्पनयेति वाच्यम्। घ्राणक्रियायाः क्षणिकत्वेन तन्नाशोत्तरम्, अङ्कुरोत्पत्तेः वारयितुमशक्यत्वात्। न च घ्राणध्वंसाभावस्यापि कारणत्वात् सति मूषिकाघ्राणे तदनन्तरं तद्ध्वंसोत्पत्तेः ध्वंससत्त्वेन तदभावरूपकारणाभावान्नाङ्कुरोत्पत्तिरिति वाच्यम्। घ्राणप्रागभावस्य कारणत्वं कल्प्यतां वा तद्ध्वंसस्य वेत्यत्र विनिगमनाविरहाल्लाघवाच्छक्तिकल्पनस्यैवोचितत्वादिति।

एवं यागादेरपि श्रुतिबोधितस्वर्गादिरूपफलसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या, अपूर्वं नाम किञ्चित् कल्प्यते। ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिभिर्वाक्यैः ज्योतिष्टोमादीनां कर्मणां स्वर्गादिसाधनत्वं श्रूयते। तच्चस्वर्गादिकं देशान्तर-कालान्तर-शरीरान्तरभोग्यमाशुतरविनाशिनो यागादेर्नोत्पत्तिमर्हति। अतस्तावत्कालपर्यन्तावस्थायि किञ्चित् कल्प्यते। सैव च यागादेः शक्तिरपूर्वपदाभिधेया। सा च फलबलात् यजमानात्मनिष्ठतया कल्प्यते। यथाहुराचार्याः —

शक्तिः कार्यानुमेयत्वाद् यद् गतैवोपयुज्यते।
तद्गतैवाभ्युपेतव्या स्वाऽऽश्रयाऽन्याऽऽश्रयाऽपि या।। इति।

अतः शक्तिः पदार्थान्तरम् इति सिद्धम्। न च तस्या गुणत्वं शङ्क्यम्। गुणेऽपि सत्त्वात्। शक्तिर्गुणो न भवति गुणवृत्तित्वात् सत्तावत्। नापि सामान्यादिकं भवितुमर्हति, तद् वृत्तित्वादेव। यद् यत्र वर्तते तत् तन्न भवति यथा गुणवृत्तिगुणत्वं गुणो न भवति। यथोक्तम्—

न द्रव्यगुणवृत्तित्वाद् गुणकर्मवहिष्कृता।
सामान्यादिषु सत्त्वेन सिद्धं भावा (पदार्था) न्तरं हि सा।। इति।

अनेनैव हेतुना संख्याया भावान्तरत्वं साधनीयम्। सादृश्यस्यतु न पदार्थान्तरत्वं भट्टमते। किन्तु तत्तत्सामान्य-स्वरूपमेव। यथाहुः —

सामान्यमेव भूयांसि गुणावयवकर्मणाम्।
भिन्नप्रधानसामान्या वृत्ति सादृश्यमिष्यते।।इति।।

द्रव्यगुणकर्मसामान्यादिवृत्तिः शक्तिपदार्थः स्वतन्त्रः सिद्धः। सा च लौकिकी व्यावहारिकी, पारलौकिकी पारमार्थिकी चेति द्विविधा।

अत्र लेखस्यास्योपासनाविषयकत्वात् पारमार्थिका लौकिकशक्तिरेव वर्णनीयः पदार्थः। स च परमात्मशक्तिरूप एव। अतः सा शक्तिः स्वाश्रयापि जगत्कार्यानुमेया परमात्माश्रयापि। तथा च—परमात्मगता जगद्रूपपरमात्मकार्यानुमेया अप्यभ्युपेतव्या, इति प्राग् उक्तशक्तिलक्षणेनैव सिद्धम्।

ननु मीमांसकैः परमात्मपदार्थ एव नैवाङ्गीक्रियते, इति चेन्न, तार्किकमतं बौद्धादिमतञ्च खण्डयन्तः जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुं परमपुरुषमुपासनाविषयं सबहुमानं स्वीकुर्वन्ति। यथा वार्त्तिककाराः —

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे।।

इत्यादिना पार्वतीपतिं परमभक्त्या नमस्कुर्वन्तो दृश्यन्ते। तथैवान्येऽपि मीमांसकाः। इत्येतद् रहस्यं *शास्त्रदीपिकायाः स्नेहप्रपूर्णी* व्याख्यायां प्रकाशितम्। तथा च पूर्वमीमांसाया नवमाध्याये देवताधिकरणे कर्माङ्गभूतदेवताया एव शारीरादिकं नास्ति केवलमन्त्ररूपत्वात्। किन्तूपासनादौ परमात्मनः श्रीविग्रहः प्रमाणसिद्धो न हि तै र्निषिध्यते। अत एव तु — वेदान्तदर्शने श्रीजैमिनिः तत्र तत्रोपासनाविषयकं स्वमतं प्रकटयति।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः (४/४/५)
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् (४/४/११) इत्यादि।

वयन्तु ब्रूमः — भगवान् जैमिनिः वेदस्य धर्मविषयं व्याचख्यौ न हि ब्रह्मास्तित्वं विरुणद्धि। एवमेव भगवतो वेदस्य ज्ञानविषयं परमात्मनं भगवान् व्यासः स्वोपज्ञे *वेदान्तदर्शने* सुस्पष्टं व्याख्यातवान्। तं जैमिनिरपि स्वीकुरुते। अस्तु प्रकृतमनुसरामः—

इयं भगवती शक्तिः समुपासिता, उपासकस्य हृदये स्वात्मना सह परमात्मानमपि प्रकाशयति। शक्त्यविनाभूतत्वात् परमात्मनः। यथाहुः — **राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका**। इति गोपालतापिन्यादिश्रुतयोऽपि अस्मदुक्तमेव तत्त्वं पुष्णन्ति। इयं भगवती शक्तिः सगुणा निर्गुणा तुरीया चेति श्रुतयः प्रतिपादयन्ति।

ॐ तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियदेवानामनाधृष्टन्देवयजनमसि।।

— यजुर्वेदः १.३१

ॐ गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपद्यसि न हि।
पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे सावदोम् मा प्रापत्।।

— वृहदारण्यकोपनिषद् ५.१४

अस्या एव जगज्जनन्याः महाकालीमहालक्ष्मीमहासरस्वतीदुर्गाम्बाशक्तयः *मार्कण्डेयपुराणे* उपास्या उक्ताः। श्रौतोपासनन्तु *श्रीसूक्तादिना* विधीयते। स्मार्तोपासनन्तु, *मार्कण्डेयश्रीदेवीभागवतादिपुराणेषु* बहुधोल्लिखितमस्ति। एवमेवास्याः भगवत्याः श्रीताराच्छिन्नमस्ताद्याः दश महाविद्याः भवन्ति (अवतारभूताः)। आसामुपासनं तान्त्रिकं पौराणिकञ्चेत्युभथापि प्राप्यते। किञ्च, तान्त्रिकोपासनमपि द्विधम्, दक्षिणवाममार्गभेदात्, तत्रापि दक्षिणादुत्तमं वामम्' इत्यभियुक्तोक्तेर्वाममार्गस्यैव प्राशस्त्यं पश्यामः।

अत्रेदं तत्थ्यं वयं वैदिका ईश्वरवादिनो ज्ञानस्य क्रमिकह्रासवादिनः वैदिकशाब्दिकानां मते भूतभविष्यद्वर्तमानकालिकं ज्ञानं ज्ञेयं च सर्वं यथार्थतया परमेश्वरः परमशक्तिरूपः शक्तिमान् एव वेत्ति स एव

परमदयालुर्जीवोपकाराय धर्मब्रह्मात्मकमलौकिकं ज्ञानं ब्रह्मादीन् अध्यजीगपत्सर्गादौ, तदेवार्षज्ञानं क्रमशो ह्रासमानमापद्यमानं साधकानां मनोमन्दिरेषु सात्त्विकोपासनमनीनशत् तामसिकीं च श्रद्धामुदपीपदत् तत एव—

मद्यमांसादिपूजेयं विप्रवर्ज्या मयेरिता।। इति जगदम्बोक्तिमुपेक्ष्य सात्त्विकप्रकृतयो जना अपि कौलतन्त्रानुयायिनो भूत्वा 'दक्षिणादुत्तमं वाम' मिति विधिवाक्यं प्राचीचरन्। अथवा—

केचन कोविदमानिनो भूतदयया रावणादीनामिव सर्वेषां पतितानां कल्याणकामनया परिसंख्याविधि-वाक्यमिदमचीक्लृपन्। दक्षिणमार्गीयतान्त्रिकोपासना समीचीनापि अतिकठिनत्वात् सामयिकतां नैवाधत्ते। नेतिधौत्यादिषट्कर्माणि, मूलाधारादिषट्चक्रचिन्तनभेदनादिक्रियायोगो वा भवन्तु भूशुद्धिभूतशुद्धिमातृकान्यासपाप-शरीरभस्मीकरणसात्त्विकशरीरभावनासहितपात्रासादनपूर्वकयन्त्रादिपूजाविधानं तत्तत्कर्ममुद्राप्रदर्शनं (प्रातरादिसंध्या-चतुष्टयोपासनं) विधाय दीक्षामन्त्रजलपूर्वकं स्तोत्रपाठहोत्रादिप्रधानोपासनमित्येतत्सर्वं कर्मकाण्डं संक्षेपेणापि अनुतिष्ठन् साधकः जीविकोपार्जनावकाशङ्क्षथमपि लब्धुं न शक्नोति। अतोऽस्मिन् कलिकाले स्वस्वनित्यनैमित्तिककर्माणि स्मार्तविधिना सम्पादयन् ''तीव्र सम्वेगानामासन्नः' 'मृदुमध्यादिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः' इति योगदर्शनानुसारम् अथवा —

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। इति

भगवद्गीतानुसारं परशक्तिशब्दाभिधेयपरमेश्वरीचरणकमलयोः सर्वतोभावेनात्मनि वेदनं (प्रपदनम्) एव सर्वश्रेष्ठोपासनमस्ति, यथाहुः महामाहेश्वरा अभिनवगुप्तपादाः—

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो मनसिजासु वहिःप्रसरासु च।।
इति विचिन्त्य शिवे! शमिता शिवे! जगति जातमयत्नवशादिदम्।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे।।

विशेषजिज्ञासुभिर्मदीया *शक्तिसपर्या* द्रष्टव्या।

व्याकरणशास्त्रपीठाध्यक्षः
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालयः
ग्रा. मदाऊ पो. भाँकरोटा
जिला-जयपुरम्-३०२०२६ (राजस्थानम्)
चलदूरभाषः ९४१४४५८६६२

शङ्कराचार्य–समाराध्या : भगवती त्रिपुरा

आचार्य नटवरलाल जोशी

शङ्कराचार्य के द्वारा आराध्या भगवती का नाम त्रिपुरा भी है जो ललिता, त्रिपुरसुन्दरी, षोडशी नामों से भी प्रख्यात हैं। दश महाविद्याओं में प्रथम तीन का अतिशय महत्त्व है और वे हैं—काली, तारा तथा षोडशी। त्रिपुरा आदि तन्त्र ग्रन्थों में अनेक तात्पर्य बतलाये गये हैं।

कामराज विद्या की अधिष्ठात्री भगवती श्रीविद्या का ही नामान्तर त्रिपुरा है। त्रिपुरा का अर्थ है—

त्रि (तीन मूर्तियों में) पुरा (पुरातन) अर्थात् गुणमयातीता त्रिगुणनियन्त्री शक्ति। इस शब्द की निरुक्ति है—मन, बुद्धि तथा चित्त रूपी तीन पुरों में निवास करने वाली शक्ति। (*त्रिपुरार्णव*)

त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश) जननी होने से, त्रयीमयी (वेदत्रयी) होने से, महाप्रलय में त्रिलोकों को अपने में लीन करने से जगदम्बा त्रिपुरा नाम से पुकारी जाती है। त्रिपुरा का स्वरूप इस प्रकार है—ब्रह्मा, विष्णु तथा ईशरूपिणी श्रीविद्या के ही ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति तथा इच्छा शक्ति—ये तीन स्वरूप हैं। (*वामकेश्वर तन्त्र*)

इच्छा शक्ति उसका शिरोभाग है, ज्ञान शक्ति मध्य भाग है और क्रिया शक्ति अधो भाग है। इस प्रकार उसका शक्तिमयात्मक रूप होने से ही वह जगदम्बा त्रिपुरा कही जाती हैं। त्रिपुराम्बा आत्मशक्ति है, श्रीविद्या है, चित् शक्ति है। यथार्थ रूप से वेद तथा तन्त्र श्रीविद्या के वास्तव स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते। यही आत्मशक्ति रूपिणी श्रीविद्या जब लीला से शरीर धारण करती है, तब वेद शास्त्र उसका निरूपण करने लगते हैं। अखिल प्रमाणों की प्रमात्री वही शक्ति चिद् शक्ति के नाम से व्यवहृत की जाती है।

त्रिपुरा नामकरण के लिए ऊपर जो कारण बतलाये गये हें, उन सबका एकत्र वर्णन शङ्कराचार्य द्वारा किया गया है—

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरणत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम।।

प्रपञ्चसार नवम पटल, द्वितीय पद्य

एक स्तुतिमय पद्य में भी इस तत्त्व को दुहराया गया है—

त्रिमुखि त्रयीस्वरूपे त्रिपुरे त्रिदशाभिवन्दिताङ्घ्रियुगे।
त्रीक्षणविलसितवक्त्रे त्रिमूर्तिमूलात्मिके प्रसीद मम।। (*प्रपञ्चसार* ८/५६)

त्रिपुरसुन्दरी विद्या अथवा पञ्चदशाक्षरी विद्या

त्रिपुरसुन्दरी की इस पञ्चदशाक्षरी विद्या का उद्धरण शङ्कराचार्य ने किया है—

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः,
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता,
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्।। (*सौन्दर्य लहरी* ३२वें पद्य के द्वारा)

यह विद्या अत्यन्त रहस्यमयी मानी जाती है। सोम, सूर्य, अनिलात्मक त्रिखण्ड इसे मातृकामया कहा जाता है। ये खण्ड अक्षर रूपों में इस प्रकार हैं—

प्रथम खण्ड (आग्नेय खण्ड) — क, ए, ई, ल, ह्रीं
द्वितीय खण्ड (सौर खण्ड) — ह, स, क, ह, ल, ह्रीं
तृतीय खण्ड (सौम्य खण्ड) — स, क, ल, ह्रीं
चौथा खण्ड (चतुष्कला खण्ड) — श्रीं

इस श्लोक की व्याख्या में लक्ष्मीधर का कथन है कि प्रथम वर्ण चतुष्टय आग्नेय खण्ड है, द्वितीय वर्णपञ्चक सौर खण्ड है। दोनों खण्डों के बीच में रुद्र ग्रन्थि स्थानीय हृल्लेखा बीज है। तृतीय खण्ड का निरूपण वर्ण त्रयी द्वारा किया गया है यह सौम्य खण्ड है। सौर तथा सौम्य खण्डों के बीच में विष्णु ग्रन्थि स्थानीय भुवनेश्वरी बीज स्थापित है। चौथा एकाक्षर चन्द्रकला खण्ड है। सौम्य खण्ड तथा चन्द्रकला खण्ड के मध्य में ब्रह्म ग्रन्थि स्थानीय हृल्लेखा बीज है। श्री—यह षोडशी कला है, इसी बीज को श्रीविद्या कहते हैं। लक्ष्मीधर ने इसे गुरुपदेशादवगन्तव्या कहा है।

आद्य तीनों खण्ड ज्ञान, इच्छा और क्रिया, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तम, रज और सत्त्व हैं। इन त्रिखण्डों में भी त्रिमात्र समझना चाहिए। यह अवरोह क्रम जानना चाहिए। (द्रष्टव्य *सौन्दर्य लहरी*, व्याख्या पृ. ८१-८२)

त्रिपुरसुन्दरी महिम्नस्तव—क्रोधभट्टारक देशिकेन्द्र दुर्वासा के द्वारा विरचित तान्त्रिक प्रमेय बहुला स्तुति तन्त्रशास्त्र में बहुत प्रसिद्ध है। यही त्रिपुरामहिम्नस्तव तथा शक्ति महिम्नस्तव नाम से भी विख्यात है। श्रीविद्या के प्रवर्तक द्वादश शिष्यों में दुर्वासा अन्यतम हैं। इन शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः।
अगस्तिरग्निः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा।
क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः।।

इनमें प्रत्येक का पृथक् पृथक् सम्प्रदाय था। इनके चतुर्थ (लोपामुद्रा) एवं पञ्चक (मन्मथ—कामदेव) के ही दो सम्प्रदाय इस समय प्रचलित हैं। कामराज विद्या ककारादि पञ्चदशवर्णात्मक है। इसे ही कादि विद्या कहते हैं। इसका स्वरूप ऊपर दिखलाया गया है। लोपामुद्रा ही हादि विद्या है। यह भी पञ्चदशवर्णात्मिका है। कामेश्वराङ्कित कामेश्वरी की पूजा को कादि, हादि दोनों विद्याओं से युक्त नाम कथा की योजना सत् सम्प्रदायों में प्रचलित है। अन्य दस विद्याएँ केवल आम्नाय पाठक ही उल्लिखित है। प्रचलित उपासना में इनका उपयोग नहीं है।

कामदेव के त्रिपुरा के प्रभावशाली शिष्य होने का उल्लेख शङ्कराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में दो बार दिया है। (*सौन्दर्य लहरी* श्लोक १ तथा ५) कामदेव अनङ्ग हैं—अङ्गों से विरहित है। अतः बाण मारने में नितान्त दुर्बल है।

मानवों तथा देवों से युद्ध में उसके साधन भी कृपामयी नितान्त शक्तिहीन हैं, परन्तु भगवती के नयन कोणों की केवल एक झलक पाकर वह महामुनियों को भी, समस्त जगत् को अपने वश में लाने में सद्यः समर्थ होता है—

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी, पञ्च विशिखाः
वसन्तः सामन्तो, मलयमरुदायोधनरथः।
तथाऽप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपाम्
अपाङ्गात्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गो विजयते।। —*सौन्दर्य लहरी*, पद्य ५

फलतः कामदेव त्रिपुर सुन्दरी का बड़ा ही भक्त तथा समर्थ उपासक है। इसलिए उसका तन्त्र सम्प्रदाय आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

लक्ष्मीधर ने इसीलिए कहा है—

मन्मथस्य अनङ्गविद्यायां मन्मथप्रस्तारस्य ऋषित्वात् तदायत्तमतिप्राबल्यम् धनुः पौष्पमिति।

देशिकेन्द्र दुर्वासा की रचना चातुरी उनके दोनों स्त्रोतों में नितान्त आकर्षक तथा मोहक है। ये दोनों स्तोत्र *शक्ति महिम्नस्तव* (५८ पद्य) एवं परशिवमहिम्नस्तव (१३ प्रकरणों में विभक्त १४१ पद्य)।

परशिवमहिम्नस्तव—उनके तान्त्रिक रहस्योद्घाटन नैपुण्य के सद्यः उद्घाटक तथा प्रकाशक हैं। दोनों में त्रिपुरा स्तुति इस प्रकार उपलब्ध है—

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवि त्रिलोकी महा–
सौन्दर्यार्णव–मन्थोद्भवसुधा–प्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम्।
उद्यद्भानुसहस्र–नूतनजपा–पुष्पप्रभं ते वपुः–
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्।। —*श्रीत्रिपुरामहिम्नस्तोत्र, १*

शब्दार्थाधारभूतं त्रिभुवनजनकं सर्वतो दिक् सतत्त्वं
त्रैलोक्यस्यापि लिङ्गत्रयविदितपदं सर्वतत्त्वैकवेद्यम्।
सर्वानिर्वाच्य–सत्तागत–परविभवज्योतिरुग्जृम्भमाणं
व्यक्तीकृत्यात्ममार्ग्योः प्रकटयसि परं तत्त्वमात्मीयमग्रे।। — *परशिवस्तुति१.१*

दुर्वासा का प्रथम स्तोत्र तो प्रसिद्ध है, परन्तु शिवपरक स्तोत्र उतना प्रसिद्ध नहीं है। इसका नाम पर शम्भुमहिम्न स्तव भी है।

इसके १३ प्रकरण हैं जिसके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—उपोद्घात प्रकरण (१८ पद्य), पराशक्तिस्कन्धरश्मि (१८ पद्य), इच्छा शक्ति स्कन्ध रश्मि (७ पद्य), क्रियाशक्ति (६ पद्य), स्कन्ध रश्मि (१२ पद्य), कुण्डलिनी शक्ति स्कन्ध रश्मि (६ पद्य), मातृका शक्तिस्कन्धरश्मि (१० पद्य), षडन्वय रश्मिविवेक स्कन्ध (५ पद्य), पावकध्यानयोग (११ पद्य), महाविभूति (१७ पद्य), अन्तर्यागोपचारपरामर्श (८ पद्य), विशेषोपचारमरामर्शे शान्ति प्रकरण (१२ पद्य), उपसंहार (२१ पद्य)। इन १३ प्रकरणों के श्लोकों की सम्मिलित संख्या १४१ है। प्रकरणों के उपरिनिर्दिष्ट नामों से वर्ण्य विषयों का किञ्चित् परिचय मिल जाता है।

अन्त में दुर्वासा नाम तथा स्तुति इस प्रकार है—

श्रीक्रोधभट्टारकदिव्यनाम्ना दुर्वाससा सूक्तमहामहिम्नः।
स्तोत्रं पठेद्यो भुवनाधिपत्यं नित्यं गुरुत्वं शिवतामुपैति।।
(*परशिवस्तुतिः* १३.२१)
सदसदनुग्रहविग्रहगृहीतमुनिविग्रहो भगवान्।
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः।।

(*श्रीत्रिपुरामहिम्नस्तोत्रम्*– ५६)

दुर्वासा की हादि विद्या त्रयोदशाक्षरी बतलाई जाती है। इनका सम्प्रदाय सर्वांशतः लुप्तप्राय है, परन्तु लोपामुद्रा सम्प्रदाय की दशा इससे भिन्न है। यह कियदंश में आज भी प्रचलित है। लोपामुद्रा भी हादि विद्या है, परन्तु वह पञ्चदशाक्षरी १५ वर्णों की बतलाई जाती है। *त्रिपुरोपनिषद्, भावनोपनिषद्* निश्चयेन कादि विद्या के ही ग्रन्थ हैं, सम्भवतः *कौलोपनिषद्* भी इसी विद्या से सम्बद्ध है।

त्रिपुरोपनिषद् के टीकाकार भास्करराय के उपोद्घात पद्य के अनुसार यह ग्रन्थ *शांख्यायन आरण्यक* के अन्तर्गत है। हादि विद्या का प्रतिपादन *त्रिपुरातापिनी उपनिषद्* में है।

लोपामुद्रा का समुदाय हादि विद्या का उपासक है। लोपामुद्रा राजकन्या थी। इनके पिता महाराजा थे और त्रिपुरसुन्दरी के बड़े भक्त थे। लोपामुद्रा ने बालकपन में इनकी बड़ी सेवा की और प्रसन्न पिता के प्रसाद से ये भगवती की कृपापात्र बन गयी। इनका विवाह ऋषि अगस्त्य से हुआ था। वे वैदिक ऋषि थे, परन्तु वे पहले तान्त्रिक नहीं थे। इसलिए भगवती के ध्यान में पदार्पण करने का भी उन्हें अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था, परन्तु उन्होंने अपनी पत्नी से दीक्षा ली। तब भगवती की उपासना के अधिकारी बने। उनका भी सम्प्रदाय है, जो उपलब्ध नहीं होता।

दश महाविद्याओं के नाम ये हैं—

(१) काली,	(२) तारा,
(३) षोडशी, श्रीविद्या	(४) भुवनेश्वरी,
(५) भैरवी,	(६) छिन्नमस्ता,
(७) धूमावती,	(८) बगला,
(९) मातङ्गी तथा	(१०) कमला।

इनमें *षोडशी* का माहात्म्य सर्वाधिक है। श्रीविद्या तान्त्रिक दृष्टि से अभ्यर्हित है तथा वैदिक दृष्टि से भी यह माननीयतम है। श्रीविद्या शक्ति चक्र की साम्राज्ञी है तथा ब्रह्मविद्या स्वरूप आत्मशक्ति है। यह उक्ति इनके भक्तों के लिए नितान्त विश्रुत है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

निदेशक, साहित्य परिषद्
डब्लू–२३, शेखावाटी सन्मार्ग,
लक्ष्मणगढ, सीकर, राजस्थान

❑

श्री भास्करराय की मीमांसाशास्त्रीय न्यायोद्भावनपटुता

डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी

सारी विद्याओं के पारग मनीषी श्रीभास्करराय विद्वद्वृन्दों के हृदय में अनश्वर प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। अपार पाण्डित्य के धनी उनकी मीमांसाशास्त्र में अकुण्ठित गति है। विपुल कलेवर वाली मीमांसा को धारण करना ही एक दुष्कर कार्य है उसमें भी अपने व्याख्यानों को सुदृढ़ बनाने के लिए न्यायों का समुचित संचार कर देना एक अतीव दुष्कर कार्य है। इस कार्य के लिए निर्मल प्रतिभान की वैसी ही अपेक्षा है जैसी सत्काव्य की रचना के लिए। श्री भास्करराय के निर्मल प्रतिभान का यह लोकोत्तर समुल्लास ही कहा जायेगा कि वे अपने व्याख्यानों में मीमांसा के न्यायों का संचार करके सन्देहास्पद वस्तु को भी हृदयङ्गम बना देते हैं जिससे विद्याप्रेमियों का हृदयपुण्डरीक वैसे ही खिल उठता है जैसे वह परदेवता का निवास के लिए आह्वान कर रहा हो। वेदवचनों में सन्देह होने पर असन्दिग्ध अर्थ के निर्णय के लिए भगवान् जैमिनि ने लोकन्यायों का अनुसरण करते हुए ही द्वादशलक्षणी मीमांसा का प्रणयन किया है तो उन न्यायों के माध्यम से अन्यत्र भी निर्भ्रान्त क्यों नहीं हुआ जा सकता? इसीलिए तो धर्मनिबन्धकारों ने अपने-अपने निबन्ध ग्रन्थों में यथोचित न्यायों का प्रयोग किया है। न्यायों के संचार में श्रीकमलाकरभट्ट और श्री अनन्तदेव को सिद्धहस्त माना जाता है क्योंकि वे दोनों महामीमांसासक थे। श्रीभास्कररायजी तन्त्रविद्या के महान् आचार्य और उपासक थे। इसी तरह अन्य विद्याओं में भी उनकी अबाध गति थी। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों में वे पारङ्गत थे, ऐसा उनके व्याख्यानों में प्रकरणानुसार यथोचित न्यायों के संचार से समझा जा सकता है। उनके सकल ग्रन्थों में संचारित न्यायों का ही यदि विचार किया जाय तो एक विपुल ग्रन्थ की रचना हो सकती है। इस लघु निबन्ध में वैसा संभव नहीं है। अतः *श्रीललितासहस्रनाम* पर उनके *सौभाग्यभास्कर* नामक व्याख्याग्रन्थ में आये कतिपय न्नायों को ही उपस्थापित करने का यथामति प्रयास कर रहा हूँ।

श्रीललितासहस्रनामस्तोत्र के माहात्म्य के प्रसङ्ग में देवी का यह वरदान प्रस्तुत है-

यथाऽस्य पठनाद्देवी प्रीयते ललिताम्बिका।
अन्यनामसहस्रस्य पाठान्न प्रीयते तथा।
श्रीमातुः प्रीतये तस्मादनिशं कीर्तयेदिदम्।।

यहाँ पर अनेक न्यायों के दर्शन होते हैं। पाठ का विधान स्वीकार करके भाव्यत्व (फलत्व) की अपेक्षा होने पर कहा है कि जैसे '**सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ**' यहाँ तादर्थ्यचतुर्थी के बल के सारे काम (पशु, पुत्र,

स्वर्ग आदि फल) भाव्य के रूप में स्वीकृत हैं जैसे ही 'प्रीयते', इस तादर्थ्यचतुर्थी से श्रीललितादेवी की प्रीति ही कीर्तन का फल है 'कीर्तयेदिदम्' में इदम् से निर्दिष्ट सहस्रनामस्तोत्र को धात्वर्थ का कर्म वैसे ही माना है जैसे 'सक्तून् जुहोति' में सक्तु को होम का कर्म माना गया है। चौथे अध्याय के तृतीय पाद के दसवें अधिकरण में 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ', इत्यादि वाक्यों को लेकर यह विचार किया गया है कि उक्त वाक्य में दर्शपूर्णमास याग में प्राप्त अवान्तर अङ्ग फलों का अनुवाद है या दर्शपूर्णमास के सारे फलों का विधान है। गोदोहनादि अङ्गों का पशु आदि जो फल अन्य वाक्यों से प्राप्त है उसी का अनुवाद है क्योंकि विधि और भावना का श्रवण नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त प्रस्तुत है कि अङ्गों के फल का अङ्ग प्रधान दर्शपूर्णमास याग नहीं हो सकता। अतः सारे कामों के लिए दर्शपूर्णमास का ही विधान होगा क्योंकि वह प्राप्त नहीं है। 'कर्तव्यों' पद का अध्याहार कर लिया जायेगा जिससे विधि और भावना को आश्रय बनाकर केवल फल सम्बन्ध ही विहित होगा। आगे यह भी विचार किया गया है कि एक ही प्रयोग में सारे कामों (फलों) का विधान है कि या प्रयोगभेद से? निमित्त के सामान्य होने के कारण एक ही प्रयोग से सारे फलों की प्राप्ति होगी, ऐसी आशङ्का होने पर कामना के कारण विशेष स्वीकार किया गया है अर्थात् जब जिस फल की कामना हो तब दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकार आर्थी भावना का फल जब श्रीभगवती की प्रीति ही होगी तो ललितासहस्रनामस्तोत्र फल नहीं होगा जो द्वितीयान्त 'इदम्' शब्द से निर्दिष्ट है। अतः मत्वर्थलक्षणा करके 'ललितासहस्रनामस्तोत्रवता कीर्तनेन श्री भगवतीप्रीतिं भावयेत्', ऐसा विधि का पर्यवसान होगा। कीर्तन धातु का अर्थ है अतः वह भावार्थाधिकरणन्याय से भावना में करण होगा। तात्पर्य यही है कि 'इदम्' इस द्वितीयान्त से श्रीललितासहस्रनामस्तोत्र का जो कर्मत्व भासित हो रहा है उसकी कारणत्व में लक्षणा हो जायेगी। इसमें दृष्टान्त है– 'सक्तूञ् जुहोति'। 'सक्तून्' में द्वितीया की करणत्व लक्षणा मीमांसा में स्वीकार की गयी है क्योंकि यदि सक्तु को भावना का कर्म ही मानेगें तो होम के द्वारा उसका संस्कार होगा। जिसका संस्कार होता है उसकी भूत या भविष्य में उपयोगिता होनी चाहिये क्योंकि भूत या भविष्य में संस्कार के योग्य वस्तु का ही संस्कार होता है। 'भूतभाव्युपयोगि हि द्रव्यं संस्कारमर्हति, ' ऐसा वार्त्तिककार ने कहा भी है। जैसे उपनयन संस्कार से संस्कृत बटु का वेदाध्ययन में उपयोग होता है और प्रोक्षण आदि संस्कारों से संस्कृत हवि का उपयोग यागों में होता है उसी प्रकार से होम से संस्कृत सक्तु का कहीं उपयोग नहीं होता क्योंकि उसका विनियोग अन्यत्र नहीं है। इसीलिए 'सक्तून्' में द्वितीया की करणत्वलक्षणा स्वीकार करते है और प्राप्त होम को ही भावना का भाव्य स्वीकार करते हैं– 'सक्तुभिर्होमं भावयेत्' अर्थात् सक्तु से होम करना चाहिये। इसी तरह जब श्री भगवती की प्रीति ही भावना का भाव्य होगी तो सहस्रनाम स्तोत्र भाव्य नहीं हो पायेगा अतः करणत्वलक्षणा करके विनियोगभङ्ग स्वीकार करना पड़ेगा। श्रीभास्करराय का यह एक व्याख्यानपक्ष है।

'नामाभिव्यञ्जककीर्त्तिनेनेष्टं भावयेत्' इत्येवार्थः, यह व्याख्यान का द्वितीय पक्ष है जिसमें श्रीभगवती की प्रीति को भावना के भाव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। 'अग्निहोत्रं जुहोति, सोमेन यजेत' इत्यादि फलवाचक पदों से शून्य उत्पत्तिविधियों में विधि के प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए इष्टसामान्य को भी भाव्य के

रूप में स्वीकार करते हैं- 'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्, सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्। फलविशेष की अपेक्षा होने पर 'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्, सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्।' फलविशेष की अपेक्षा होने पर **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि अधिकरविधियों से स्वर्गादिफलविशेष समर्पण होता है या उन उन कर्मों को आश्रय बना कर 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यादि प्रयोगों का विधान होता है। इसी तरह श्रीललितासहस्रनामस्तोत्र के कीर्तन का फलविशेष क्या होगा? ऐसी अपेक्षा होने पर उपसंहार में आये फलविशेषों का बोध या उन उन फलों के लिए उन उन प्रयोगों का विधान उपपन्न हो जायेगा।

अब यहाँ यह आशङ्का स्वाभाविक है कि **'श्रीमातुःप्रीयते तस्मादनिशं कीर्तयेदिदम्'** इस वचन से जब श्रीभगवती की प्रीति फल के रूप में प्रतीत हो रही है तो उसे ही भावना का भाव्य क्यों न माना जाय? क्यों इष्टसामान्य को भावना का भाव्य स्वीकार किया जाय? इस आशङ्का का उत्तर ग्रन्थकार ने स्वयम् दे दिया है- 'तस्मादिति हेत्वधिकरणन्यायेनार्थवादः।'

इस निरूपण के पूर्व सामान्य पाठकों के लिए यह परिचय अपेक्षित है कि भावना क्या है जिसके भाव्य स्वर्गादि हैं। 'यजेत्, कीर्तयेत्, दद्यात्' इत्यादि लिङ्लकार से युक्त वाक्यों को विधि कहते है जिससे भावनार्थक विवरण है। भावना शब्द से आर्थी भावना विवक्षित है। एक आचार्य के मत में वह प्रयत्न है और पार्थसारथिमिश्र के मत में प्रयोजन की इच्छा से जनित यागादिधात्वर्थ विषयक व्यापार सामान्य ही आर्थी भावना कही जाती है। यह तीन अंशों से विशिष्ट ही प्रतीत होती है। इसीलिए 'त्र्यंशा भावनावाक्यार्थः' ऐसा कहा गया है। प्रथम अंश भाव्य है जो स्वर्गादि फल ही होता है। इसीलिए इसे फलभाव्यक भावना कहते हैं। इसकी आकाङ्क्षा करणत्व की होती है 'केन स्वर्गं भावयेत्'। धात्वर्थ याग, कीर्तन आदि से इसकी पूर्ति होती है- 'यागेन स्वर्गं भावयेत्'। दूसरा अंश इतिकर्तव्यता है जिसे कर्तव्यताविशेष भी कहते है। प्रकरण में पठित कर्म विशेष ही इति कर्तव्यता के रूप में भावना में अन्वित होते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में विहित भावना का भाव्य स्वर्गादिफल, साधन करण कीर्तन और इतिकर्तव्यता स्नान-आचमन आदि हैं।

प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का तृतीय अधिकरण हेत्वधिकरण है जहाँ 'शूर्पेण जुहोति' के अनन्तर **'तेन ह्यन्नं क्रियते'** यह वाक्य श्रुत है। पूर्वपक्षी यहाँ शूर्प के द्वारा करणीय होम में अन्नकरणत्व हेतुत्व का विधान करना चाहता है- शूर्प के द्वारा होम करना चाहिये क्योंकि वह अन्न का कारण (साधन) है । 'हि' शब्द से हेतुत्व साक्षात् उक्त है। हेतुत्व के बल से ही व्याप्ति की कल्पना होगी- जो जो अन्न के कारण हैं उन सभी दर्वी, पिठर आदि पात्रों से भी होम करना चाहिये। इसी तरह यहाँ भी स्वीकार कर सकते हैं कि क्योंकि देवी जितना प्रसन्न श्रीललितासहस्नाम के पाठ से होती हैं उतना अन्य श्री विष्णुसहस्रनाम आदि के पाठों से नहीं होतीं अतः श्रीदेवी के अतिशय प्रीति के लिए श्रीललितासहस्रनाम का पाठ करना चाहिये। यहाँ भी 'तस्मात्' शब्द से हेतुत्व साक्षात् उक्त हैं।, व्याप्ति भी कल्पना कर ली जायेगी- जिन जिन कार्यों से भगवती अतिशय प्रसन्न हों उन उन श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रपाठ से अन्य कार्यों को भी करना चाहिये। किन-किन

कार्यों से भगवती अधिक प्रसन्न होंगी? ऐसी अपेक्षा होने पर मनीषियों ने प्रमाण के रूप स्वीकार किया ही है- '*आत्मनस्तुष्टिरेव च*'। अर्थात् जिन कार्यों में अपना मन लगे उन्हीं कार्यों से भगवती प्रसन्न होती हैं। इसी दृष्टि को आत्मसात् करके कई कुपन्थ भारत में खड़े हो गये हैं। अनधिकारी गायत्री जप रहे हैं तो तन्त्र के मर्म को न समझने वाले पञ्चमकारी हो गये हैं। धर्मनिरपेक्षता के कारण स्वेच्छाचारिता का अकाण्ड ताण्डव दिखायी देने लगा। इसीलिए आचार्य श्रीभास्करराय ने कहा- 'तस्मादिति हेत्वाधिकरण- न्यायेनार्थवादः।' इससे यही होगा कि यथार्थ समझने वाले शिष्ट कुपथगामी नहीं होंगे।

अर्थवाद उसे कहते हैं जो वाक्य स्तुति या निन्दा के द्वारा किसी भी कार्य में रुचि या अरुचि उत्पन्न करने के लिए होते है। अर्थवादवाक्यों का अपने मुख्य अर्थ में तात्पर्य नहीं होता। सिद्धान्त पक्ष यही है कि विधिवाक्य जब हेतुनिरपेक्ष होकर कर्मों का विधान करते हैं तो पुनः हेतु का विधान कैसे हो सकता है? जैसा कि श्री पार्थसारथिमिश्र ने *शास्त्रदीपिका* में कहा है-

'न च वेदेनोच्यमानं शूर्पस्य होमसाधनत्वं हेतुमपक्षते, वेदस्यैव तत्र प्रमाणत्वात्।' यहाँ भी यदि शास्त्र श्रीललितासहस्रनाम के पाठ का विधान कर रहा है तो वही उसमें प्रमाण है। **'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।'** क्यों पाठ किया जाय? इसका उत्तर यही होगा कि शास्त्र विधान कर रहा है इसीलिए पाठ किया जाय। हेतु की अपेक्षा नहीं है। जिस अर्थ की अपेक्षा है उस अर्थ को हम लक्षणावृत्ति से स्वीकार करते हैं। रुचि के लिए स्तुति की अपेक्षा है अतः स्तुति अर्थ ही स्वीकार किया जायेगा। *श्रीविष्णुसहस्रनाम* आदि के पाठ के भगवती उतना प्रसन्न नहीं होती जितना श्रीललितासहस्रनाम के पाठ से होती हैं, ऐसा कहने पर श्रीललितासहस्रनाम के प्राशस्त्य की प्रतीति होती है। यही स्तुति है जिससे पाठ में रुचि उत्पन्न होती है। अतः अपेक्षित होने से अर्थवादत्व ही स्वीकार करना उचित है जैसा कि *शास्त्रदीपिका* में ही कहा गया है- 'अर्थादस्त्वपेक्षितः प्ररोचनार्थत्वेन, तस्मादर्थवादत्वम्।' यह न्याय बहुत ही महत्त्व का है। इसी न्याय से हेतुमूलक क्षपणक आदि के ग्रन्थों के प्रामाण्य का भी निरास हो जायेगा क्योंकि उनके ग्रन्थ हेतुवादों से परिपूर्ण हैं। एवञ्च, स्तुति में ही तात्पर्य होने से श्रीभगवती की प्रीति भावना भाव्य नहीं होगी अतः विधि के प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए इष्टसामान्य ही भावना का भाव्य होगा। उक्तश्लोक में ही आचार्य ने 'अनिशम्' का 'यावज्जीवम्' अर्थ करके कहा है- 'तेनाग्नि- होत्रवन्नित्यकाम्योभयरूपमिदं कर्मेति सिध्यति'। यहाँ द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के यावज्जीवाधिकरणन्याय का संचार किया गया है जिससे श्रीललितासहस्रनामस्तोत्र का पाठ नित्य और काम्य दोनों रूप सिद्ध होता है। तथा हि- **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'**, इस वाक्य से काम्यप्रयोग विहित है। पुनः इसी प्रकरण में **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'**, यह वाक्य पठित है। यहां जीवन को निमित्त मान कर अग्निहोत्र का विधान है। जीवन तब तक निश्चित माना जाता है जब तक शरीर का विनिपात न हो। अतः नियत निमित्त वाला होने से पुरुषार्थ नियम का ही विधान होगा। जीवन पर्यन्त स्वर्ग के लिए अग्निहोत्र होम के अभ्यास (आवृत्ति) का विधान मानने पर 'यावज्जीव' पद की काल में लक्षणा और 'यज' धातु का यागाभ्यास में लक्षणा माननी पड़ेगी सो उचित नहीं है। एवञ्च नित्य और काम्य दोनों का भेद सिद्ध हो

जाता है। जीवन पर्यन्त साङ्गकर्म का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है। काम्यकर्मों में सारे अङ्गों के साथ प्रधान कर्म को करना आवश्यक है अन्यथा फल की प्राप्ति नहीं होगी। श्रीललितासहस्रनाम के पाठ के नित्यत्व का द्योतक यह श्लोक है-

जपान्ते कीर्तयेन्नित्यमिदं नामसहस्रकम्।
जपपूजाद्यशक्तोऽपि पठेन्नामसहस्रकम्॥

यहाँ उत्तरार्ध में यथाशक्तिन्याय ही प्रदर्शित है- जप पूजा के अनुष्ठान की शक्ति न होने पर भी नामसहस्र का पाठ करना चाहिये। इसीलिए-

सद्यः प्रसादं कुरुते तत्र सिंहासनेश्वरी।
चक्राधिराजमभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्॥

इस श्लोक को श्रीभास्करराय ने यावज्जीववाक्य से प्राप्त कालसामान्य का कालविशेष में उपसंहारवाक्य माना है। अस्पष्ट सामान्यविधि का विशेषविधि से उपसंहार होता है जैसे 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' से सामान्यतः प्राप्त पुरोडाश के चतुर्धाकरण का 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' से उपसंहार होता है- आग्नेय पुरोडाश का चतुर्धाकरण किया जाय। 'चक्राधिराज का पूजन करके नित्यत्वेन प्राप्त पञ्चदशाक्षरीमन्त्र का जप करना चाहिये ततः एकवार नित्य ही श्रीललितासहस्रनाम का कीर्तन करना चाहिये, इस तरह से वाक्यार्थ निष्पन्न होता है। यदि ऐसी बात है तो जैसे **'बाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत्'** इस वाक्य से बृहस्पतिसवयाग का वाजपेयवाक्य के साथ अङ्गाङ्गिभाव स्वीकार किया गया है क्योंकि यह वाक्य वाजपेय के ही प्रकरण में पठित है। एवञ्च, कीर्तन श्रीचक्र के पूजन का अङ्ग होगा। ऐसे में कीर्तन को स्वतन्त्र कर्म फलविशेष के लिए नहीं स्वीकार किया जा सकता तथा कीर्तन के नित्यकर्मत्व की व्यवस्था भी नहीं हो पायेगी। इसके समाधान में श्रीभास्करराय जी ने दूसरे न्याय का संचार किया है-

'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इतिवदयं कालार्थः संयोगः।'

अभिप्राय यह है कि जैसे बृहस्पतिसव वाजपेय का अङ्ग है वैसे ही दर्शपूर्णमास याग का अङ्ग सोमयाग (ज्योतिष्टोम) हो जाय या ज्योतिष्टोम का ही अङ्ग दर्शपूर्णमास याग हो जाय, ऐसी आशङ्का के उत्तर में यह सिद्धान्त स्थापित है- प्राकरणिक ज्योतिष्टोम स्वर्ग फल के लिए अन्यत्र विहित है अतः वह दर्शपूर्णमास याग का अङ्ग नहीं हो सकता। दर्शपूर्णमास का भी अन्यत्र फल के लिए विधान है अत दर्शपूर्णमास भी सोम का अङ्ग नहीं हो सकता। क्योंकि इस वाक्य में दर्शपूर्णमास विहित नहीं है और जो विहित नहीं होता वह अङ्ग भी नहीं होता- 'न ह्यविहितमङ्गं भवति', यह न्याय हैं। एवञ्च यहाँ काल के लिए सोम का दर्शपूर्णमास के साथ सम्बन्ध है- दर्शपूर्णमास याग के काल के बाद ही सोमयाग करना चाहिये। यदि पहले दर्शपूर्णमास याग हो

गया हो तभी सोम याग करना चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर दर्शपूर्णमासयाग काल में उपलक्षण है। इस प्रकरण में भी श्रीभास्करराय वहाँ की युक्तियों को यहाँ प्रस्तुत किया है-

'अर्चनजपकीर्तनानां प्रत्येकं विधिभिः फले विनियोगेन कृतार्थत्वात्'।

अर्थात् फलविशेष के लिए पूजन, जप, कीर्तन (पाठ) और न्यास आदि का अलग-अलग विधियों से विधान हो गया है अतः सारी विधियों के कृतार्थ होने से अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह है कि पूजन, जप, न्यास के बाद जो काल है उसीकाल में श्रीललितासहस्रनामस्तोत्र का पाठ करना चाहिये भले ही शक्ति के अभाव में पूजन, न्यास न हो। यहीं पर उपलक्षणन्यास को भी इन्होंने स्थापित किया है— **'अत एव जपपूजादेः कालोपलक्षणार्थत्वात्'** अनपायो हि कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशौ; इतिन्यायेन तदभावेऽपि कर्तव्यतां प्राप्तानुवदति।' इस पङ्क्ति को मीमांसा के अनुशीलन के विना समझना कठिन है अतः अभिप्राय प्रकाशन अपेक्षित है। पूर्णिमा में आग्नेय और अग्नीषोम दो पुरोडाशयाग विहित है। ततः **'जामिवा यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशो, उपांशुयाजमन्तरा यजति'** इस वाक्य से लगातार दो पुरोडाशयागों को करने में आलस्य दोष दिखाकर बीच में उपांशुयाज का विधान है। ये तीनों पूर्णिमा में होने वाले याग पौर्णमास याग कहे जाते हैं। यहाँ पर आग्नेय और अग्नीषोमीय दो पुराडाश यागों से उपलक्षित अन्तराल (मध्य) काल में उपांशुयाज विहित है। एक वाक्य का और उपदेश है- **'नासोमयाजिनोऽग्नीषोमीयपुरोडाशः'** अर्थात् जो सोमयाग न किया हो वह अग्नीषोमीय पुरोडाशयाग न करे। फिर क्या करे? इसका भी निर्देश है- **'द्रव्यापचारे आज्येन प्रतिसंख्याय यजेत।'** इस प्रकार आज्य का प्रत्याम्नाय होने पर भी दो पुरोडाशों से उपलक्षित काल का अनपाय ही रहेगा अर्थात् काल का विश्लेष नहीं होगा। इसी बात को श्रीभास्कराय ने इङ्गित किया है- **'अनपायो हि कालस्य लक्षणं' हि पुरोडाशौ'**। अर्थात् उपांशुयाज का काल वही रहेगा क्योंकि दो पुरोडाश काल के उपलक्षण हैं। अङ्गाङ्गिभाव नहीं है, यह अभिप्राय है। **'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः'**, यहाँ पर जैसे काक देवदत्त के गृह का उपलक्षण है वैसे ही। काक के न रहने पर भी गृह का बोध हो जायेगा वैसे ही एक पुरोडाशयाग न होने पर अन्तरालकाल का बोध हो जायेगा। इसी तथ्य को तेइसवें श्लोक में आचार्य ने इस तरह से स्फोरित किया है—'उपास्तिं प्रति जपदीनां सर्वेषामङ्गत्वाद् नित्यकर्माङ्गेषु यथाशक्त्युपबन्धस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात् अशक्त्या जपाद्यकरणे तदुत्तरकालत्वाभावेऽपि तदुपलक्षितकालस्यानपायात् एकपुरोडाशाया-मिष्टावुपांशुयाजवद् नामसहस्र-कीर्तनं कर्तव्यमेवेत्यर्थः।'

यहाँ उपासना (पूजन) के प्रति जप आदि सभी को अङ्ग कहा है। पूजन नित्यकर्मों में परिगणित हैं। अतः जप आदि भी अङ्गों का अनुष्ठान यथाशक्ति होगा। शक्ति न रहने पर जप आदि अङ्गों को नहीं करेंगे तो जप आदि का उत्तरकाल भी नहीं होगा तथापि जप से उपलक्षित काल का विशेष नहीं होगा। जैसे एक पुरोडाश वाली इष्टि के अनुष्ठान में भी बीच में उपांशुयाज होता है वैसे ही नामसहस्र का पाठ होगा ही। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सहस्रनाम का संकीर्तन भी उपासना का अङ्ग है जिसे सन्ध्यावन्दन की तरह नित्य अङ्ग माना

है। ऐसे में फल का कथन असङ्गत होगा क्योंकि 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादःस्यात्' इस न्याय से अङ्गों का प्रधान याग में विनियोग होने से फल की श्रुति को केवल स्तुति के लिए अर्थवाद माना गया है। इसके समाधान मे श्रीभास्करराय ने *श्रीललितासहस्रनाम* के कीर्तन को संयोगपृथक्त्वन्याय से क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दोनों माना है। जैसा कि उन्होंने कहा है- **'ततश्च संयोगपृथक्त्वन्यायेन कीर्तनं क्रत्वर्थपुरुषार्थोभयरूपमिति मन्तव्यम्।'**

जिससे भावना की इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा की पूर्ति हो वह क्रत्वर्थ होता है और भावना में करण और फल पुरुषार्थ होते हैं। चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद का तृतीय अधिकरण ही संयोगपृथक्त्वन्याय है। अग्निहोत्र के प्रकरण में 'दध्ना जुहोति' के बाद 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यह वाक्य उपदिष्ट है। यहाँ यह आशङ्का होती है कि इन्द्रिय फल के लिए जो दधि द्रव्य उपदिष्ट है वह नित्य अग्निहोत्र में भी होगा या नहीं? इस पर सिद्धान्त सूत्र है- एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्। एक ही दधि के क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दोनों होनें में संयोग अर्थात् विनियोजकवाक्य का पृथक्त्व ही हेतु है, यह सूत्रार्थ है। इसी न्यास से सहस्रनाम का कीर्तन क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दोनों है। अर्चन आदि के साथ पाठ होने से क्रतु (अर्चन) का अङ्ग है और पृथक् फल के लिए विहित होने से पुरुषार्थ भी है। *श्रीललितासहस्रनामस्तोत्र* कीर्तन का क्या फल है, इसे उपसंहार में आये श्लोकों से समझा जा सकता है। भक्तों की सारी कामना में इस स्तोत्र के पाठ से सिद्ध होती है, ऐसा कहा गया है।

सौभाग्यभास्कर में इसी तरह अनेक महत्त्वपूर्ण न्यायों के संचार का दर्शन होता है जिससे अतिनिगूढतत्त्व भी करामलकवत् झलकने लगते हैं। अन्त में अतीत उपयोगी होने से एक स्थल का दिग्दर्शन कराना उचित समझता हूँ।

लिखित्वा पुस्तके यस्तु नामसाहस्रमुत्तमम्।
समर्चयेत् सदा भक्त्या तस्य तुष्यति सुन्दरी।
तस्मादुपासको नित्यं कीर्तयेदिदमादरात्।।

यहाँ पर श्री भास्करराय ने कीर्तन में ही तात्पर्य स्वीकार किया है, कि श्रीभगवती पुस्तक की पूजा से भी सन्तुष्ट हो जाती हैं यदि कीर्तन किया जाय तो क्या कहना? इसके बाद भी मीमांसा के जिज्ञासाधिकरणन्याय को उपस्थापित करके कीर्तन का पर्यवसान सहस्रनाम के अर्थज्ञान में ही किया है। सर्वथा उचित स्थान पर इस न्यास का संचार हृदय को चकित कर देता है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि के द्वारा स्वाध्यायाध्ययन भावना का विधान होता है। कुलपरम्परा से प्राप्त अपनी वेदशाखा को स्वाध्याय कहते हैं। गुरु मुखोच्चारणपूर्वकं उच्चारण को अध्ययन कहते हैं। स्वाध्याय के अध्ययन का फल स्वर्ग आदि अदृष्ट नहीं हो सकता क्योंकि अर्थज्ञानरूप दृष्टफल उपलब्ध है। दृष्टफल के रहने पर अदृष्ट फल स्वीकार नहीं किया जा सकता, ऐसा न्याय है- 'दृष्टे संभवति अदृष्टकल्पनस्यान्याय्यत्वम्।' अत उक्त विधि से अर्थज्ञान प्रयोजनीभूत स्वाध्याय की इच्छा से अध्ययन भावना का ही विधान होगा। वह अनुष्ठानरूप प्रयोजन वाला अर्थज्ञान विचार

के बिना संभव नहीं है अतः वही विधि मीमांसारूप विचारशास्त्र का भी विधान करता है फलतः 'अधीत्य स्नायात्' इस शास्त्र से प्राप्त अध्ययन के अनन्तर स्नान (समावर्तन) का उत्कर्ष हो जायेगा। इसी तरह 'नामानि कीर्तयेत्' इस विधि का तात्पर्य भी श्रीभगवती के सहस्रनामों के अर्थो के ज्ञान में ही है। वह अर्थज्ञान भाष्य के विचार बिना संभव नहीं है अतः कीर्तनविधि से ही नामों के विचार का भी विधान हो जाता है, इसीलिए कहा गया है-

अप्येकं नाम यो वेत्ति धात्वर्थनिगमनादिभिः।
सोऽपि श्रीललितालोके कल्पकोटीर्वसेन्नरः।।

व्याकरण, निगमनिघण्टु आदि के द्वारा श्रीभगवती के एक नाम को भी समझ लेना है वह करोड़ों कल्पों तक श्रीललिता के लोक में निवास करता है। एवञ्च, मुख्य फल नामों के अर्थानुसन्धान पूर्वक कीर्तन में ही है। जिन्हें अर्थज्ञान की शक्ति नहीं है वे अर्थानुसन्धान के बिना भी कीर्तन कर सकते हैं, इस विषय में भी आचार्य ने '**आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी**' न्याय को उद्घाटित किया है जिसका यही अर्थ है कि विधियों की प्रवृत्ति पुरुषों की शक्ति की अपेक्षा से होती है। सामर्थ्य यदि कीर्तन का भी नहीं है तो उन सेठ, साहूकारों के लिए पुस्तकपूजन का ही विधान है ताकि वे दूसरे जन्म में कीर्तन की योग्यता प्राप्त कर सकें। अर्थज्ञान के संपादन में असमर्थ लोग यदि केवल कीर्तन ही करते हैं तो उन्हें दूसरे जन्म में अर्थज्ञान का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जायेगा, इसकी भी सूचना श्रीभास्करराय ने दी है। 'उच्चारणस्य जन्मान्तरेऽर्थज्ञानप्रदत्ववत् पुस्तकसङ्ग्रहस्या-प्युच्चारणप्रदत्वं जन्मान्तरे संभवतीति सुवचनम्।'

इस श्रुति से यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि –'**योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाममेति ज्ञानविधूतपाप्मा।**' जो अर्थ को जानता है उसे सकल कल्याण की प्राप्ति होती है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अर्थज्ञान न होने पर भी केवल शब्द के ज्ञान से भी कुछ न कुछ विकल्प फल प्राप्त होता है। एवञ्च, यह सिद्ध हुआ कि पुस्तक का पूजन और अर्थज्ञान से शून्य नाम का संकीर्तन भी धर्म है। अर्थज्ञान से पूर्ण नामों का संकीर्तन परमधर्म है। आखिर *श्रीसौभाग्यभास्कर* नामक भाष्य लिखकर श्रीभास्कररायजी ने अपनी सर्वज्ञता का जो परिचय दिया है वह इसलिए नहीं कि कोई उसे पढ़े ही न। श्रीललिता की उपासना की परिपूर्णता के लिए भाष्य का अनुशीलन आवश्यक है। इस तरह से सारी विद्याओं का अनुशीलन हो जायेगा, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है।

मीमांसाविभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

❑

मन्त्रयोग की आगमिक भूमिका

डॉ .चन्द्रकान्ता राय

वेद तथा आगम का साहित्य अत्यन्त विशाल है। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** *(आपस्तम्बपरिभाषा)* इस परिभाषा के अनुसार मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद है। वैदिक साहित्य कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के भेद से दो वर्गों में विचारणीय होता है। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों तथा ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आरण्यकों और उपनिषदों का परिगणन किया गया है। दोनों ही काण्डों के प्रकरणों में अर्थबोध एवं कर्मसम्पादन के लिए षड्वेदाङ्ग तथा प्रतिशाख्य साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्रों का अध्ययन श्रवण परम्परा से होता रहा है इसलिए वैदिक मन्त्र राशि का प्रथित नाम श्रुति है। श्रुति के नाम से आगम साहित्य का भी आविर्भाव हुआ। *मनुस्मृति* की टीका में मेधातिथि ने संकेत दिया है '*श्रुतिर्द्विधा वैदिकी तान्त्रिकी चेति*'। इस आगम साहित्य को उपासना क्रम में देवता के नाम के आधार पर वैष्णवागम, शैवागम तथा शाक्तागम में विभाजित किया गया है। वैष्णवागम का प्रसिद्ध शास्त्र पञ्चरात्र है जिसमें *सात्वत संहिता, अहिर्बुधन्य संहिता, पौष्कर संहिता, जयाख्यसंहिता, ईश्वरसंहिता, हयशीर्षसंहिता, विष्णुसंहिता* इत्यादि उल्लेखनीय हैं। शैवागम के अन्तर्गत पाशुपत, शैव, वीरशैव नाम से विशिष्ट सम्प्रदाय विकसित हुए हैं। शाक्तागम का भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन वर्गों में विभाजन प्राप्त होता है जिन्हें क्रमशः तन्त्र, यामल तथा डामर कहा जाता है। शिव के पाँच मुखों से पाँच प्रकार के आगम या आम्नाय की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है जिन्हें पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, उत्तराम्नाय, पश्चिमाम्नाय तथा ऊर्ध्वाम्नाय कहा जाता है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के आगमों की दर्शन दृष्टि, पूजा पद्धति तथा आचार संहिता पृथक् पृथक् प्रकार की है। वैदिक एवं आगमिक दोनों ही परम्पराएँ अध्यात्म साधना के क्षेत्र में परस्पर अत्यन्त सन्निकट हैं। सृष्टि के मूल अद्वय तत्त्व के स्वारस्य को समझने के लिए भारतीय मनीषियों ने अपनी साधना से इन दोनों धाराओं की उद्भावना की है। मनुष्य का शरीर विराट् शक्ति का पुञ्ज है। वह अपनी साधना से जीवन में अपूर्व सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अभीप्सित सिद्धि के साधन का उपाय निगम तथा आगम में निर्दिष्ट है। वैदिक कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड में वेद मन्त्रों के द्वारा देवताओं का आह्वान किया जाता है। *यजुर्वेद* में यज्ञ स्वरूप में दिव्यता की प्रतिष्ठा के लिए इस प्रकार मन्त्र पाठ विहित होता है—

या ते धर्म दिव्या शुग्या गायत्र्यां हविर्धाने।
सा त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा।। – *माध्यन्दिनसंहिता* ३८/१८

'हे धर्म! तुम्हारी जो दिव्य दीप्ति गायत्री में तथा यज्ञगृह में विद्यमान रहती है, वह तुम्हारी दीप्ति बढ़े और दृढ़ हो। तुम्हारी दीप्ति के लिए तथा तुम्हारे लिए यह हवि हो।'

आगम में भी इसी प्रकार मन्त्र प्रयोग से प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा का विधान प्राप्त होता है। सामान्य पाषाण, मृत्तिका इत्यादि में परमात्मा की शक्ति की अनुभूति नहीं होती, किन्तु उसी पाषाण अथवा मृत्तिका की भाव के अनुरूप मूर्ति बनाकर मन्त्र प्रयोग से उसमें जब प्राण प्रतिष्ठा की जाती है तो वही मूर्ति साधक को सिद्धि प्रदान करने में समर्थ हो जाती है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति की गुण साम्य की अवस्था प्रलयावस्था है तथा गुण वैषम्य की स्थिति सृष्टि की द्योतक है। परमात्मा एक तथा अद्वैत रूप होते हुए भी अपने संकल्प के विलास से नाना रूपों में अवभासित होता है। सृष्टि के लिए उसके संकल्प के साथ मूल प्रकृति चञ्चल हो उठती है। उस चाञ्चल्य से जो कम्पन होता है, उससे शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार मूल प्रकृति के विराट् ब्रह्माण्ड रूप में कम्पन से आविर्भूत प्रथम ॐकार है जिसे परमेश्वर का वाचक कहा गया है। प्रकृति की गुण वैषम्य की अवस्था में स्पन्दन से बीजमन्त्र उद्भूत होते हैं। लोक में परमेश्वर की माया—शक्ति, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—इन आठ भागों में विभक्त है। प्रकृति के जिस विभाग के स्पन्दन से जो मन्त्र उत्पन्न होता है, उसका उस विभाग के देवता के साथ अधिदैव सम्बन्ध होता है, वह मन्त्र उस देवता के साधन के लिए होता है। ॐकार का अखिल ब्रह्माण्ड के नियामक परमेश्वर के साथ अधिदैव सम्बन्ध है, ॐकार उन परमेश्वर का मन्त्र है। वैदिक तथा आगम परम्परा में ऋषियों ने जिस प्रकार प्रकृति के भिन्न-भिन्न विभागों के अधिष्ठाता देवता का उपदेश किया है, उसी प्रकार विभागों के स्पन्दन से उत्पन्न शब्दों का भी अपने तप और संयम से संचय कर उन उन देवताओं के साधक मन्त्र के रूप में उनका विधि निर्देश किया है। प्रकृति के प्रथम ब्रह्माण्डीय स्पन्दन से प्रथमत: उत्पन्न ॐकार शब्द से अन्य मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है इसलिए शास्त्र का संकेत है—'मन्त्राणां प्रणव: सेतु:।'

लिङ्ग पुराण में ॐकार मन्त्र की उत्पत्ति और उसकी महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है—

तदा समभवत्तत्र नादो वै शब्दलक्षण:।
ओमोमिति सुरश्रेष्ठा: सुव्यक्त: प्लुतलक्षण:।।

कठोपनिषद में इस ॐकार मन्त्र को परमात्मा परमेश्वर का नाम, परं पद, साधन तथा साध्य उभयविध बताया गया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

—*कठोपनिषद् १/२/१५*

तथा—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।। *कठोपनिषद्* १/२/१६-१७

मनुस्मृति में वेदाध्ययन के फल की सिद्धि के लिए वेदाध्ययन के आदि और अन्त में ॐकार के उच्चारण को आवश्यक बताया गया है तथा ॐकार के उच्चारण की अर्हता का प्रतिपादन किया गया है, तद्यथा—

ब्रह्मण: प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति।।
प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ॐकारमर्हति।। – *मनुस्मृति* २.७४-७५

ॐकार से ही त्रयी विद्या की प्रवृत्ति होती है। ॐकार का उच्चारण करके अध्वर्यु आश्रवण कर्म करता है, होता शंसन करता है तथा उद्गाता सामगान करता है। इस ॐकार की पूजा के लिए ही सभी वैदिक कर्म हैं तथा इसकी महिमा और रस के द्वारा ही सभी कर्म प्रवृत्त होते हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* में इस तत्त्वार्थ को इस प्रकार प्रकट किया गया है—'**तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद् गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन।**' (*छान्दोग्य उपनिषद्* १.१.९)

महर्षि याज्ञवल्क्य के वचन हैं—

सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते।
तेन सम्परिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि।।
यन्न्यूनमतिविद्यं च यच्छिद्रं यदयज्ञियम्।
यदमेध्यमशुद्धं च यातयामं च यद्भवेत्।।
तदोङ्कारप्रयुक्तेन मन्त्रेणाविकलं भवेत्।

अर्थात् सभी प्रकार के मन्त्र में आदि में ॐकार का उच्चारण करना चाहिए। ॐकार से युक्त होकर मन्त्र फलप्रद हो जाता है। यज्ञादि में कोई कर्म न्यून अथवा वेदविद्या से पृथक् हो, किसी दोष से युक्त अथवा यज्ञविधि से विहीन हो, अपवित्र अथवा नियतकाल के क्रम से रहित हो तो ॐकार सहित मन्त्र के प्रयोग से वह कर्म अविकल रूप से सम्पन्न हो जाता है।

यह ॐकार तैलधारा की भाँति अनवच्छिन्न तथा दीर्घ घण्टा-निनाद की तरह मधुर ध्वनि वाला है। तन्त्र में इस ॐकार को ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर का वाचक कहा गया है—

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥

श्रीमद्भगवद्गीता में ओम्, तत्, सत्—इन तीन पदों से परमात्मा का निर्देश किया गया है। तद्यथा—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। इति। – *श्रीमद्भगवद्गीता १७/२३*

ओम्, तत्, सत्—ये तीन मन्त्र हैं जिनसे परमेश्वर के तीन भावों—ब्रह्मभाव, ईश्वरभाव तथा विराट् पुरुषभाव का अर्थ प्रकाशन होता है। ये भाव उस परमात्मा के अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत रूप हैं। यह प्रणव अथवा ॐकार साक्षात् शब्दब्रह्म है। मुख से उच्चारित होने वाला प्रणव अलौकिक प्रणव नाद का प्रतिशब्द है। वह केवल लौकिक आधार से आविर्भूत नहीं होता। *छान्दोग्योपनिषद्* में **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।'** (१/१/१) इन शब्दों में प्रणव की उपासना का उपदेश किया गया है। अपनी माया शक्ति से उपहित होकर परब्रह्म भूत-वर्तमान-भविष्यत्-चराचर रूप में अभिव्यक्त होता है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। – *ऋग्वेद १०/९०/२*

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदितिसर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ — *माण्डूक्य उपनिषद् १*

इत्यादि शब्दों में श्रुति उसकी सर्वत्र, सभी कालों में व्याप्ति का शंसन करती है। इस ॐकार संज्ञा वाले ब्रह्म के जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय भेद से चार पाद हैं जिनका वर्णन *माण्डूक्य उपनिषद्* में प्राप्त होता है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्। – *माण्डूक्य उपनिषद् २*

आगम का सिद्धान्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड का है। मानव शरीर एक पिण्ड है और सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादि सहित चौदह भुवनों का विशाल विस्तार ब्रह्माण्ड है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है। मूल प्रकृति के साथ व्यष्टि का एकत्व सम्बन्ध होने पर प्रकृति के स्पन्दन से उद्भूत सभी शब्द व्यष्टि प्रकृति में भी उत्पन्न होते हैं। ॐकार से प्रारम्भ कर सभी शब्दों और मन्त्रों का उच्चारण जीव शरीर के विभिन्न अङ्गों द्वारा होता है। आगमशास्त्र की दृष्टि में जिस प्रकार समष्टि प्रकृति का प्रथम स्पन्दन ॐकार समष्टि प्रकृति के गर्भ से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार व्यष्टि शरीर में भी प्रकृति का स्थान मूलाधार चक्र स्थित स्नायु केन्द्र में होने के कारण आदि नाद प्रणव की उत्पत्ति उस स्नायु केन्द्र कुण्डलिनी से होती है। अन्य सभी प्रकार के नाद भी वहीं से निकल कर इडा-पिङ्गला-सुषुम्ना के द्वारा भिन्न-भिन्न मार्ग से प्रवाहित होते हुए मन्त्र और वर्ण के रूप में हृदय, तालु, जिह्वा, मूर्धा आदि स्थानों से प्रकट होते हैं। *शारदातिलक* के अनुसार—

भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः।।

शरीर में स्थित षट्चक्र अतिसूक्ष्म हैं। इन चक्रों में प्रचुर शक्ति न्यस्त है। मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी प्राणशक्ति रूप हैं। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का इसके साथ सम्बन्ध है जिनके द्वारा प्राणादि वायु का प्रवाह पूरे शरीर में व्याप्त होता है। इन तीनों नाड़ियों के साथ प्राणादि समस्त वायु का सम्बन्ध होने पर प्रकृति स्पन्दन जनित समस्त वर्णमाला की उत्पत्ति होती है। साधक अपनी व्यष्टि प्रकृति के जिस-जिस स्तर पर चित्त को संयत करता है, उसी स्तर का समष्टि प्रकृति का नाद वह सुन सकता है। साम्यावस्था प्रकृति के स्पन्दन का प्रथम शब्द प्रणव है। साधक जब अपनी व्यष्टि प्रकृति को साम्यावस्था में पहुँचा देता है उस समय अपनी प्रकृति में ही समष्टि प्रकृति के प्रथम नाद ॐकार का श्रवण करने लगता है। व्यष्टि प्रकृति को साम्यावस्था के अतिरिक्त जिस-जिस स्वर पर संयत करते हैं उस स्तर के समष्टि प्रकृति के नाद का प्रतिबिम्ब अपनी प्रकृति में अनुभव करते हैं। क्रान्तदर्शी ऋषियों ने उन्हीं नादों के अनुसार परमेश्वर तथा उनके भिन्न-भिन्न शक्ति स्वरूप देवताओं के साधन के लिए मन्त्र समूह और संस्कृत वर्णमालाओं का आविष्कार किया है। दीर्घकाल तक मन्त्र का अभ्यास करते-करते मन्त्र की शक्ति से उसकी नादात्मकता का बोध होता है। जड़ भूताकाश में उत्पन्न होने के कारण मन्त्र भी जड़ है, किन्तु नाद चैतन्य है। नादरूप में परिणत होकर मन्त्र चैतन्य हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अष्टधा प्रकृति का वर्णन है। समष्टि प्रकृति के प्रथम स्पन्दन ॐकार मन्त्र की उत्पत्ति के अनन्तर द्वितीय स्पन्दन में अष्ट प्रकृति से प्रमुख अष्ट बीजों की उत्पत्ति हुई है जिन्हें मन्त्र शास्त्र में इस प्रकार परिगणित कराया गया है—

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत्।।
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता।।

इनमें क्, ल्, ई और म् से कामबीज का; क्, र्, ई और म् से योगबीज का; आ, ए, और म् से गुरुबीज का; ह्, र्, ई और म् से शक्तिबीज का; श्, र्, ई और म् से रमाबीज का; ट्, र्, ई और म् से तेजोबीज का; स्, त्, र्, ई और म् से शान्तिबीज का तथा ह्, ल्, ई और म् से रक्षाबीज का अनुभव होना बताया गया है। योगशास्त्र के अनुसार कारण ब्रह्म की आठ प्रकृतियों से जिस प्रकार कार्यब्रह्म उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार शब्द ब्रह्म के आठ बीज अष्ट प्रकृति हैं। ये ही प्रधान बीज हैं। प्रकृति के विस्तार के साथ-साथ अनेक मन्त्र

निर्धारित होते हैं जो विविध देवताओं के प्रसादन के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये मन्त्र साधक को समस्त सिद्धि प्रदान करते हैं। योगशास्त्र में उल्लेख है—

मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम्।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम्।।

मन्त्र साधन से देवता प्रसन्न होकर मन्त्र योग की सिद्धि से युक्त साधक को समस्त वैभव सुलभ करा देते हैं। मन्त्र के साथ दैवी शक्ति का साक्षात् सम्बन्ध होता है। अन्तःकरण की शुद्ध शक्ति भावशक्ति, प्राणशक्ति और संयमशक्ति के साथ मन्त्र का प्रयोग होने पर उसमें असाधारण शक्ति आ जाती है। अन्तःकरण की पूर्ण शक्ति के साथ वह मन्त्र साध्य वस्तु को लक्ष्यकर प्रयुक्त हो तो लक्ष्यार्थ की सिद्धि अवश्यमेव हो जाती है। मन साधना का यन्त्र है। साधना से जब मन की मलिनता मिट जाती है तब वह चैतन्य के प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है। सभी सिद्धियाँ मन्त्र योग से उसे प्राप्त हो जाती हैं। इष्टदेव को लक्ष्य करके इष्टदेव के मन्त्र का जप तथा उसकी अर्थ भावना करते-करते साधक जिस प्रकृति के साथ इष्टदेव तथा मन्त्र का सम्बन्ध है, उसमें अपन चित्त वृत्ति को विलीन कर लेता है। जिस नाम और रूप के अवलम्बन से जीव संसार में बद्ध होता है उसी नाम तथा रूप का दिव्य भाव के साथ आश्रय करके वह नामरूप निर्मुक्त ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है। प्रकार नामरूपमय मन्त्र योग की साधना के द्वारा सविकल्पक समाधिरूप महाभाव 'समाधि' को प्राप्त करके वह चिन्मय, निराकार तथा निर्गुण ब्रह्म की साधना का अधिकार लाभ करता है।

अध्यक्ष एवं एसोसिएट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी

❑

दक्षिणामूर्ति : तान्त्रिक दृष्टि में गुरु

डॉ .आशीष कुमार जोशी

गुरुगौरवेणास्ति यो विश्ववन्द्यः
समस्तैर्जनैः पूजनीयः सुनन्द्यः।
प्रभा भाति यस्य प्रकाशस्य लोके
स देशः सदा वर्धतां भारताख्यः।।

गुरु की महिमा अवर्णनीय है। शास्त्र की दृष्टि में गुरु मानव रूप में ही देवाधिदेव का ही साक्षात् रूप प्रस्तुत करता है। गुरु केवल ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर रूप में न होकर साक्षात् परब्रह्म ही होता है।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

अध्यात्म जगत् में भी गुरु को ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होने की नितान्त आवश्यकता होती है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुसाक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

गुरुतत्त्व

वह परोक्ष ज्ञान एवं अपरोक्ष ज्ञान उभयविध ज्ञान की सम्पदा से सुशोभित रहता है, परन्तु इतने-से ही वह व्यक्ति गुरु की महनीय पदवी प्राप्त नहीं कर सकता। उसमें ज्ञान शक्ति के साथ-ही-साथ इच्छा शक्ति एवं क्रिया शक्ति का संयोग भी चाहिए। दूसरों के दुःख दूर करने की जो इच्छा है, उसे ही कृपा या 'करुणा' कहते हैं।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

ज्ञानी होकर भी जो व्यक्ति कृपा से विरहित होता है, वह कथमपि गुरु का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। 'करुणा' ही एकमात्र प्रवर्तिका होती है, परन्तु इच्छाहीन में करुणा कहाँ? ज्ञानी में केवल इच्छा से कार्य नहीं होता, यदि उसमें इस इच्छा को सफल बनाने में सामर्थ्य नहीं रहती। 'करुणा' के उदय होने पर ही बोधिसत्त्व 'बुद्ध' रूप प्राप्तकर जगत् के कल्याण में तत्पर होता है।

शङ्कराचार्य की तान्त्रिक दृष्टि में यह गुरु 'दक्षिणामूर्ति' के नाम से व्यवहृत होता है। आचार्य का '*दक्षिणामूर्ति स्तोत्र*' और सुरेश्वराचार्य कृत उस पर वार्तिक देखकर शङ्कराचार्य को त्रिपुरा सम्प्रदाय का आचार्य होने में कथमपि संदेह नहीं किया जा सकता। 'दक्षिणामूर्ति' त्रिपुरा सम्प्रदाय का शब्द है। '*दक्षिणामूर्ति संहिता*' दक्षिणामूर्ति उपनिषद् प्रभृति उस सम्प्रदाय के प्रतिपादक प्रख्यात ग्रन्थ हैं। सुतरां गुरुतत्त्व किंवा स्वात्म देवता का दक्षिणामूर्ति के रूप में वर्णन करने से शङ्कर का आगमानुराग प्रमाणित होता है। स्तोत्र के प्रथम पद्य में ही आचार्य ने अपने तान्त्रिक ज्ञान की एक दिव्य झाँकी प्रस्तुत की है—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात् कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।

— *दक्षिणामूर्ति संहिता*

ज्ञानी की दृष्टि में विश्व स्वात्मगत तथा दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान है। अर्थात् वस्तुतः यह विश्व अपने अन्तर्गत है, परन्तु माया से बहिर्वत् प्रतीत होता है। प्रबोध काल में निद्रा के तिरोहित होने पर माया के नष्ट होने पर वह पुनः अपने तद्रूप आत्मस्वरूप में ही साक्षात् कृत होता है। यहाँ विश्व स्वीकृत होता है, परन्तु वह चिन्मय है, अपने स्वातन्त्र्य के विलास एवं आत्मभित्ति स्थित चित्ररूप में अङ्गीकृत है।

'दक्षिणामूर्ति' नाम का आदिपद 'दक्षिणा' बुद्धि का वाचक *दक्षिणामूर्ति उपनिषद्* में बतलाया गया है, बुद्धि को दक्षिणा कहते हैं। यह बुद्धि जिसके साक्षात्कार में प्रमुख साधन हो, उस शिव को ब्रह्मवादीगण दक्षिणाभिमुख अथवा दक्षिणामूर्ति नाम से पुकारते हैं—

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः।।

– *दक्षिणामूर्ति उपनिषद्* का १९ पद्य

दक्षिणामूर्ति के चार प्रकार होते हैं—

(१) चार भुजा वाली यह खड़ी मूर्ति, भक्तों को वीणा वादन की शिक्षा देती है, (वीणाधरमूर्ति)
(२) ध्यानावस्थमुद्रा में बैठी, भक्तों को अपने दर्शन से योग की शिक्षा देती है, (योगमूर्ति)
(३) ज्ञान की शिक्षा देने वाली, (ज्ञानमूर्ति)
(४) इतर शास्त्रों के उपदेश के निमित्त धारण की जाती है (व्याख्यानमूर्ति)।

अन्तिम दोनों मूर्तियाँ वीरासन धारण कर ज्ञान तथा व्याख्यान की मुद्राएँ प्रदर्शित करती हुई उपदेश देती हैं।

इन मूर्तियों की उपलब्धि दक्षिण भारत में विशेष रूप से होती है। पुरी में जगन्नाथ जी के मन्दिर में वीणाधर मूर्ति प्राप्त होती है और विष्णु काञ्ची में योग दक्षिणामूर्ति। योगपट्ट धारण करने वाली इस मूर्ति के चारों ओर अनेक ऋषि लोग योग की शिक्षा ग्रहण करते दिखाये गये हैं। *दक्षिणामूर्ति उपनिषद्* (१०८ उपनिषदों में ५१ संख्या वाला) शिवतत्त्व के उपदेष्टा गुरु के अद्वैत सिद्धान्तों का वर्णन करता है। इस देवमूर्ति की अराधना के लिए अनेक मन्त्र दिये गये हैं, जिनमें **ॐ ब्रं नमः दक्षिणामूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा**, यह मन्त्र सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। काञ्ची में विराजमान उपरि निर्दिष्ट दक्षिणामूर्ति का निर्माण उक्त उपनिषद् के आधार पर किया गया प्रतीत होता है—

भस्मन्यापाण्डुराङ्गशशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला–
वीणाप्रस्तैर्विराजत्–करकमलधरो योगपट्टाभिरामः।
व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः
सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः।। (अष्टम पद्य)

दक्षिणामूर्ति शङ्कर का व्याख्यान शब्दों के माध्यम से नहीं होता, प्रत्युत यह मौन व्याख्यान है। व्यास पीठ पर विराजमान गुरु को शब्दों के माध्यम से उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती प्रत्युत उनके दर्शनमात्र से ही शिष्यों के हृदयस्थ संदेह छिन्न–भिन्न हो जाते हैं। अद्वैत तत्त्व की शिक्षा देने वाले सच्चे गुरु के विषय में यह प्राचीन सूक्ति अक्षरशः सत्य है—

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः।

शङ्कराचार्य ने अद्वैत की शिक्षा के लिए इसी आदर्श का संकेत आपके *शारीरकभाष्य* में किया है। आचार्य बतलाते हैं कि किसी प्राचीनकाल में बाध्वऋषि ब्रह्मोपदेश के लिए गुरु के पास गये। गुरु पूर्णतः मौन धारण किये रहे, एक शब्द भी नहीं बोले। बाध्व ने तीन बार प्रश्न किया और तीनों बार एक ही अशब्द उत्तर था—सम्पूर्ण मौनावलम्बन। पुनः पूछे जाने पर गुरु ने अपना मौन तोड़ा और कहा कि मैं व्यवहारतः आपके प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ, परन्तु आप समझते ही नहीं। आत्मा शान्त स्वरूप है (उपशान्तोऽयमात्मा)। यह तथ्य मैं अपने मौनाचरण से बतला रहा हूँ ब्रह्म के उपदेश के लिए शब्दों का माध्यम अकिञ्चित्कर है। ठीक ही है—

यन्मौन्याख्यया मौनि पटलक्षणमात्रतः।
महामौनपदं याति स हि मे परमा गतिः।।

आचार्य शङ्कर की यह लोकातीत प्रतिभा सम्पन्न *सौन्दर्यलहरी* आध्यात्मिक तान्त्रिक तथ्यों तथा साहित्यिक मनोरम कल्पनाओं का इतना मञ्जुल सामरस्य प्रस्तुत करती है कि दर्शन तथा साहित्य उभय का रसिक पाठक आनन्द से विभोर हो जाता है। *सौन्दर्यलहरी* के अपने एक पद्य में भगवती के स्तनपान कराने पर जो द्रविडशिशु (कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता) प्रौढ़ कवियों में कमनीय कवयिता बन जाता है,

वह आचार्य शङ्कर से अभिन्न ही है। आचार्य शङ्कर की चमत्कारी प्रतिभा की प्रभा प्रति श्लोक में दिखती है। एक-दो दृष्टान्त का आस्वादन कीजिए। भगवती ललिताम्बा की माँग (सीमन्त) लाल लाल सिन्दूर से भरी हुई है। माँग उनके मुख की सुन्दरता के प्रवाह का मार्ग प्रतीत होती है। काले काले केश कलाप के द्वारा वेष्टित यह सिन्दूर प्रवाह प्रतीत होता है, प्रात:कालीन सूर्य किरणों का पुञ्ज है जिसे काले केश रूपी अन्धकार शत्रुओं ने कारागार में बन्द कर रखा है—

तनोतु क्षेमं न स्तव वदनसौन्दर्यलहरी–
परीवाहस्रोत: सरणिरिव सीमन्तसरणि:।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर–
द्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्।। – *सौन्दर्यलहरी ४४*

त्रिपुरसुन्दरी की दृष्टि के पात से भक्त एक विचित्र पुण्य सङ्गम में स्नान कर पवित्र होकर अपने को कृतार्थ करता है। पराम्बा के नेत्र की लालिमा शोणनद है, श्वेत रङ्ग गङ्गा है तथा श्यामरुचि यमुना है। वह पवित्र सङ्गम के द्वारा समस्त भक्तों को पवित्र करती हैं—

पवित्रीकर्तुं न: पशुपति पराधीनहृदये
दयामित्रैर्नेत्रैररुण–धवल–श्याम–रुचिभि:।
नद: शोणो गङ्गा तपनतनयेति ध्रुवममुं
त्रयाणां तीर्थानामुपनयसि सम्भेदमनघम्।। – *सौन्दर्यलहरी ५४*

अन्त में मीनाक्षी से यह सुभग प्रार्थना है—

शब्दब्रह्ममयी चराचरमयी ज्योतिर्मयी वाङ्मयी
नित्यानन्दमयी निरञ्जनमयी तत्त्वम्मयी चिन्मयी।
तत्त्वातीतमयी परात्परमयी मायामयी श्रीमयी
सर्वैश्वर्यमयी सदाशिवमयी मां पाहि मीनाम्बिके।।

प्रवक्ता, संस्कृत,
हेलिना कौशिक महाविद्यालय, मलसीसर, झुंझुनूं
शेखावाटी सन्मार्ग, लक्ष्मणगढ, सीकर, राजस्थान
०९४६१८०४६००

❑

तान्त्रिक वाङ्मय में निरूपित हनुमत्तत्त्व

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

श्री हनुमान् सर्वबली हैं। विद्या, बुद्धि, बल, सेवा सङ्गीत, भक्ति, ब्रह्मचर्य, त्याग, योग एवं तन्त्र के अनुत्तम पुञ्ज हैं। अपने बल के बारे में की गई उनकी यह घोषणा सर्वथा अभिनन्दनीय है—

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः।
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिस्तु प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः।।
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वराक्षसाम्।।

— *बाल्मीकीयरामायण* ५. ४२. ३४–३६

यह घोषणा कविकल्पना मात्र नहीं है, यह निराधार नहीं है, इसका अन्यत्र उल्लेख *बाल्मीकीयसुन्दरकाण्ड* में इस प्रकार उपलब्ध है—

कामं खल्वहमप्येकः सवाजिरथकुञ्जराम्।
लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः।।

— *बाल्मीकीयसुन्दरकाण्ड* ५१. ३१

इस प्रकार श्री हनुमान् का अतुलित एवं सर्वातिशायी बलशाली होना सिद्ध होता है। इसीलिए तुलसीदास जी ने इनकी वन्दना 'अतुलितबलधामं' कह कर की है। सेवा भावना के आदर्श होने पर भी इनकी महत्ता सेव्य श्रीराम से कम नहीं मानी जा सकती है। तभी तो यह दोहा प्रचलित हुआ है—

स्वामी से सेवक बडों, चारों युग परमान।
सेतु बाँधि रघुवर गयो, कुदि गयो हनुमान्।।

एकादश रुद्रावतार महावीर सङ्कटमोचक श्री हनुमान् का तान्त्रिक परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका महनीय चरित्र आदर्श स्वरूप होने के कारण बहुत प्रकार से वन्दनीय है। अपने सेव्य श्रीराम के प्रति आदर्श सेवा भक्ति, अतुलित बल तथा गुण का धाम होना, चिरञ्जीवी होना, बहुशास्त्रज्ञता, सङ्गीतादि विद्या के प्रवर्तक

होना, योग एवं तन्त्र का अधिष्ठाता आचार्य होना तथा सङ्कट दूर करने की अद्भुत क्षमता वाला होना, इन के चरित्र की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। इस आलेख में विपुल तान्त्रिक मन्त्र विधानों को सङ्केत रूप में वर्णन करना ही अभीष्ट है।

सङ्गीत शास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों में श्री हनुमान् का सर्वप्रथम नाम है—

कर्ता सङ्गीतशास्त्रस्य हनूमांश्च महाकपिः।
शार्दूलकाहलावैतौ सङ्गीतग्रन्थकारिणौ।।
आञ्जनेयो मातृगुप्तो रावणो नन्दिकेश्वरः।
स्वातिर्गणो विन्दुराजः क्षेत्रराजश्च काहलः।।

— *शारङ्गदेवकृत सङ्गीतरत्नाकर*

इन्होंने **'हनुमत्संहिता'** या **'आञ्जनेय संहिता'** नामक सङ्गीत विद्या का ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख 'सङ्गीत सुधा' आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। *शिवपुराण* की एक कथा के अनुसार श्री हनुमान् के हृदयहारिणी तान से भगवान् शङ्कर तथा विष्णु आदि देवता गौतम ऋषि के आश्रम में मुग्ध हो गये। वहां भोजन के पश्चात् भगवान् शङ्कर अपने चरण हनुमान् जी की अञ्जलि में रख कर लेट गये। तब वहां उपस्थित सभी देवगण स्तम्भित रह गये तथा दिव्य पुष्पों की वृष्टि करने लगे। तब श्री हनुमान् की महिमा के विषय में भगवान् विष्णु ने इन वचनों को सुनाया—

मया वर्ष सहस्रं तु सहस्राब्जैस्तथान्वहम्।
भक्त्या सम्पूजितोऽपीश! पादो नो दर्शितस्त्वया।।
लोके वादो हि सुमहाञ्छम्भुर्नारायणप्रियः।
हरिः प्रियस्तथा शम्भोर्न तादृग् भाग्यमस्ति मे।। — *शिवपुराण*

श्री हनुमान् की सङ्गीत साधना से शिव भक्ति की महिमा भी इस वर्णन से स्पष्ट होती है।

श्री हनुमान् के लोकोत्तर गुणों का वर्णन श्रीराम ने स्वयं अगस्त ऋषि के सम्मुख किया है—

शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्रज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयः।। —*बाल्मीकीयरामायण६. ३५. ३*

अर्थात् शूरता, दक्षता, बल, धैर्य, ज्ञान, नीति साधन, पराक्रम और प्रभाव—इन समस्त सद्गुणों ने हनुमान् जी को अपना आलय बना लिया है। वस्तुतः रामायण महामाला के अद्भुत रत्न के रूप में उनकी गणना की गई है। अगाध और दुर्लंघ्य समुद्र को गाय के खुर के समान मानकर पार करने वाले तथा भयङ्कर राक्षसों को मच्छर के समान मसलने वाले महाबली की सर्वत्र वन्दना भला क्यों न होगी?

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्।।

अत एव तुलसीदास जी ने इनके अद्वितीय बल, बुद्धि तथा कार्यकुशलता का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

पवनतनय बल पवन समाना, बुद्धि विवेक विज्ञान निधाना।
कवन जो काज कठिन जग माहीं, जो नहीं होइ तात तुम्ह पाहीं।।

— रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड, २९

महाबली श्री हनुमान् का स्मरण मात्र हमें दीर्घायुष्य, निरोगता, घोर सङ्कट से मुक्ति, भव बाधाओं की निवृत्ति तथा दुर्जय काम के बन्धनों से छुटकारा एवं समर्थता दिलाता है। अत एव पौराणिक ऋषियों ने इनको प्रात: स्मरणीय माना, जो निम्न श्लोकों से स्पष्ट है—

१. **अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनुमांश्च विभीषण:।**
कृप: परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविन:।।
सप्तैतान्संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।
जीवेद्वर्षशतं सोऽपि सर्वव्याधिविवर्जित:।।
—नित्यकर्मप्रयोगमाला, प्रात:स्मरणम्, चतुर्थीलाल, संवत् २००४, पृ. ५

२. **हरं हरिं हरिश्चन्द्रं हनुमन्तं हलायुधम्।**
पञ्चकं वै स्मरेन्नित्यं घोरसङ्कटनाशकम्।। *—तथैव १५, पृ. ६*

३. **रामं स्कन्दं हनूमन्तं वैनतेयं वृकोदरम्।**
पञ्चैतान्संस्मरेन्नित्यं भवबाधा विनश्यति।। *—तथैव १६, पृ. ६*

४. **राम लक्ष्मणौ सीता च सुग्रीवो हनुमान् कपि:।**
पञ्चैतान्स्मरतो नित्यं महाबाधा प्रमुच्यते।। *—तथैव २०, पृ. ६*

५. **सनत्कुमारदेवर्षिशुकभीष्मप्लवङ्गमा:।**
पञ्चैतान्स्मरतो नित्यं कामस्तस्य न बाधते।। *—तथैव १९, पृ. ६*

६. **प्रात: स्मरामि हनुमन्तमनन्तवीर्यं, श्रीरामचन्द्रचरणाम्बुजचञ्चरीकम्।**
लङ्कापुरीदहननन्दितदेववृन्दं, सर्वार्थसिद्धसदनं प्रथितप्रभावम्।। *—तथैव*

जब हनुमत् के नाम स्मरण मात्र में इतनी दिव्यता है तो भला उनको तान्त्रिक वाङ्मय में उच्च स्थान क्यों नहीं मिलता। पुराणों में इनके द्वादश नामों की अतिमहिमा मानी गई है, जिनको प्रात: तथा सायंकाल में पढ़कर साधक निर्भय होकर सर्वत्र विजयी होता है तथा धन धान्य को प्राप्त करता है—

हनुमानञ्जनीसूनुर्वायुपुत्रो महाबलः।
रामेष्टः फाल्गुनसखः पिङ्गाक्षोऽमितविक्रमः।।
उदधिक्रमणश्चैव सीताशोकविनाशनः।
लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा।।
द्वादशैतानि नामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः।
सायंकाले प्रभाते च यात्राकाले च यः पठेत्।।
न भयं विद्यते तस्य सर्वत्र विजयी भवेत्।
धनधान्यं भवेत्तस्य दुःखं नैव कदाचन।।[१]

— ब्रह्माण्ड पुराण नारदागस्तसंवाद, रामप्रोक्त

हनुमान् की तान्त्रिक साधना के लिए मन्त्र निर्देश '*शारदा तिलक*' ग्रन्थ की राघवभट्ट कृत पदार्थादर्श व्याख्या में प्रतिपादित है। मूल *शारदातिलक* में श्रीराम के अङ्ग देवता के रूप में पुस्तक पढ़ते हुए हनुमान् के ध्यान का उल्लेख है—

वाचयन्तं हनूमन्तमग्रतो धृतपुस्तकम्। *—शारदातिलक १५.९२*

टीकाकार ने अङ्गचतुष्टयी में श्री हनुमान् को प्रधान मानकर *अगस्तिसंहिता* से हनुमत्साधना का विधान इस प्रकार उद्धृत किया है—

आञ्जनेयमनुं वक्ष्ये भुक्तिमुक्त्यैकसाधनम्।
प्रकाशितं शङ्करेण लोकानां हितकाम्यया।।
भूतप्रेतपिशाचादिडाकिनीब्रह्मराक्षसाः।
दृष्ट्वाथ प्रपलायन्ते मन्त्रानुष्ठानतत्परम्।।
प्रधानश्चाङ्गभूतोऽयं मन्त्रराजो ह्यनुत्तमः।
पूर्वं नमः पदं चोक्त्वा ततो भगवते पदम्।।
आञ्जनेयपदं ङेन्तं महाबलपदं तथा।
वह्निजायान्त एव स्यान्मन्त्रो हनुमतः परः।।
सर्वसिद्धिकरः प्रोक्तं मन्त्रश्चाष्टदशाक्षरः।
ऋषिरीश्वर एव स्यादनुष्टुप् छन्द उच्यते।।
हनुमान् देवता प्रोक्तो हं बीजं शक्तिरन्तजौ।
हनुमत्प्रीणनं चैव फलमाद्यमुदाहृतम्।।

---

१. पाठान्तर— द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
विश्वं तस्य भवेद्वश्ये युद्धे च विजयी भवेत्।।

नमो भगवते चाञ्जनेयायाङ्गुष्ठयोर्न्यसेत्।
अग्निगर्भाय च तथानामिकाभ्यां प्रविन्यसेत्।।
ब्रह्मास्त्रनिवारणाय चास्त्रमन्त्रः समीरिताः।।
एवं षडङ्गं च मुने! कृत्वा ध्यायेदनन्यधीः।
स्फटिकाभं स्वर्णकान्तिं द्विभुजं च कृताञ्जलिम्।।
कुण्डलद्वयसंशोभिमुखाम्भोजं मुहुर्मुहुः।
अयुतं तु पुरश्चर्या रामस्याग्रे शिवस्य वा।।
पूजा तु वैष्णवे पीठे शैवे वा विदधीत वै।
आवृत्तीभिर्विना नित्यं नक्ताशी विजितेन्द्रियः।।

शारदातिलक पदार्थादर्श, पृ. ३१७-७२

इस उल्लेख के अनुसार श्री हनुमान् के अष्टादशाक्षर मन्त्र स्वरूप निष्पादित होता है, **'ॐ नमो भगवते आञ्जनेयाय महाबलाय स्वाहा'**। इस मन्त्र का एक ध्यान और उपलब्ध होता है—

दहनतप्तसुवर्णसमप्रभं भयहरं हृदये विहिताञ्जलिम्।
श्रवणकुण्डलशोभिमुखाम्बुजं नमत वानरराजमिहाद्भुतम्।।

अनुष्ठानप्रकाशकार (पृ. ३०२-३) ने इस ध्यान के साथ नौ श्लोकों में इसकी विधि तथा महिमा प्रतिपादित की है।

मन्त्र महोदधि नामक तन्त्रग्रन्थ में श्री हनुमान् का विलक्षण द्वादशाक्षर मन्त्र का विधान उपलब्ध होता है। द्वादशाक्षर मन्त्र है—'ॐ हौं ह्स्फ्रें ख्फ्रें ह्स्रौं ह्स्ख्फ्रें ह्सौं हनुमते नमः'। इस विवरण के बाद विनियोग, ऋष्यादिन्यास, करन्यास, हृदयादिन्यास, वर्ण तथा पदन्यास की विधि का वर्णन हुआ। श्री हनुमत् के ध्यान के वर्णन इस प्रकार हैं—

बालार्कायुततेजसं त्रिभुवनप्रक्षोभकं सुन्दरम्,
सुग्रीवादिसमस्तवानरगणैः संसेव्यपादाम्बुजम्।
नादेनैव समस्तराक्षसगणान्संत्रासयन्तं प्रभुम्,
श्रीमद्रामपदाम्बुजस्मृतिरतं ध्यायामि वातात्मजम्।।

इसके बाद हनुमद्यन्त्र का पूजन एवं मन्त्र का महात्म्य तथा प्रयोजनानुसार विधि को वहां २२ श्लोकों से स्पष्ट किया गया है।

तन्त्रसार नामक ग्रन्थ में अन्य द्वादशाक्षर हनुमन्मन्त्र का प्रतिपादन हुआ है—

वियत्सलवकं हनूमते च तदनन्तरम्।
रुद्रात्मकाय कवचं फडिति द्वादशाक्षरः।।

एतन्मन्त्रमर्जुनाय पुरा दत्तं तु शौरिणा।
जपेन साधनं कृत्वा जितं सर्वं चराचरम्।।

मन्त्र का स्वरूप है—'ॐ हनुमते रुद्रात्मकाय हुं फट्'। ध्यान का वर्णन इस प्रकार है—

महाशैलं समुत्पाट्य धावन्तं रावणं प्रति।
तिष्ठ तिष्ठ रणे दुष्ट घोररावं समुत्सृजन्।।
लाक्षारक्तारुणं रौद्रं कालान्तकयमोपमम्।
ज्वलदग्निसमं नेत्रं सूर्यकोटिसमप्रभम्।।
अङ्गदाद्यैर्महावीरैर्वेष्टितं रुद्ररूपिणम्।
शैवरूपिणमभ्यर्च्य ध्यात्वा लक्षं जपेन्मनुम्।।

— अनुष्ठानप्रकाश, पृ. ३०३

इस मन्त्र का लक्ष जप पूरा करने के बाद दिनरात जप किया जाता है जब तक स्वयं श्री हनुमान् प्रकट नहीं होवें। रात्रि को स्वयं आकर श्री हनुमान् उसे दर्शन और वरदान देते हैं—

लक्षान्तदिवसं प्राप्य कुर्याच्च पूजनं महत्।
दिवारात्रौ जपं कुर्याद्यावत् संदर्शनं भवेत्।।
सुदृढं साधकं मत्वा निशीथे पवनात्मजः।
सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा प्रयाति साधकागतः।।
यथेप्सितं वरं दत्त्वा साधकाय कपिप्रभुः।
वरं लब्ध्वा साधकेन्द्रो विहरेदात्मनः सुखैः।।

— अनुष्ठानप्रकाश, पृ. ३०४

श्री हनुमान् का वीर साधन दशाक्षरी मन्त्र और ध्यान है—

ध्यायेद्रणे हनुमन्तं कपिकोटिसमन्वितम्।
धावन्तं रावणं सेतुं दृष्ट्वा सत्वरमुत्थितम्।।
लक्ष्मणं च महावीरं पतितं रणभूतले।
गुरुश्च क्रोधमुत्पाद्य गृहीत्वा गुरुपर्वतम्।।
हाहाकारैः सदर्पैश्च कम्पयन्तं जगत्त्रयम्।
आब्रह्माण्डं समाव्याप्य कृत्वा भीमं कलेवरम्।।

— अनुष्ठानप्रकाश, पृ. ३०४

इस मन्त्र का सात दिन का प्रयोग है। नहीं डरने वाले साधक का सातवें दिन अभीप्सित सिद्ध हो जाता है—

विद्यां वापि धनं वापि राज्यं वा शत्रुनिग्रहम्।
तत्क्षणादेव चाप्नोति सत्यं सत्यं सुनिश्चितम्।।

— *अनुष्ठानप्रकाश*, पृ. ३०५

ब्रह्माण्डपुराण के नारदागस्त्य संवाद में श्री राम प्रोक्त एकमुखी हनुमत्कवच (४२ श्लोकात्मक) साधकों का सर्वाभीष्ट साधक है। इसी प्रकार **'सुदर्शन संहिता'** में विभीषण प्रोक्त २२ श्लोकों का हनुमत्स्तोत्र विलक्षण महिमा वाला है।

रोगनिवृत्ति के लिए **'हनुमान बाहुक'** शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिए **'बजरंग बाण'** मुकदमे में विजय हेतु **'हनुमान् चालीसा'** की शतावृत्ति समस्त कष्टों की निवृत्ति हेतु **'हनुमत्सहस्रनाम स्तोत्रम्'** से परिक्रमा, फल, पुष्प, नैवेद्य वस्त्रादि का समर्पण, प्रत्येक नाम से करने पर मनोरथसिद्धि, रामभक्ति के लिए **'हनुमत् पञ्चरत्न स्तोत्र'** (शङ्कराचार्यकृत) सङ्कटनाश के लिए **'हनुमानाष्टक'** सर्वार्थसिद्धि के लिए बाल्मीकीय एवं तुलसीदासीय **'सुन्दरकाण्ड'** सद्बुद्धि के लिए **'हनुमद् गायत्री ॐ अञ्जनीजाय विद्महे वायुपुत्राय धीमहि, तन्नो हनुमान् प्रचोदयात्'**। हनुमत्तुष्टि के लिए **'वीरविंशतिका हनुमत् स्तोत्र'** (उमापतिद्विवेदिरचित) आदि का विधान तान्त्रिक परम्परा में मान्य है। इसके अतिरिक्त अनेक मालामन्त्रों (बड़े मन्त्रों) का उल्लेख प्राप्त होता है। **बृहज्ज्योतिषार्णव** में एकमुखी, पञ्चमुखी तथा एकादशमुखी हनुमत्कवच प्राप्त होते हैं।

श्रीहनुमद्यन्त्र का विधान **मन्त्रमहार्णव अनुष्ठान प्रकाशादि** ग्रन्थों में प्राप्त है। वहां द्वादशाक्षरी मन्त्र के यन्त्र विधान उपलब्ध हैं। वाहन दुर्घटना नाश के लिए 'मारुति यन्त्र' का प्रकाशन जोधपुर के पं. भोजराज द्विवेदी ने कादम्बिनी नवम्बर १९९३, पृ. १७४ किया है।

आदि काव्य *वाल्मीकीय रामायण* के सुन्दरकाण्ड का अनुष्ठान श्री हनुमान् जी को शीघ्र ही प्रसन्न करके सर्वोच्च सिद्धि प्रदाता है। जयपुर के हनुमत्सिद्धि प्राप्त ब्रह्मलीन पं. वृद्धिचन्द्र जी धर्मशास्त्री के अनुसार सुन्दर काण्ड के पाठ से पूर्व किष्किन्धा काण्ड में (४४वाँ सर्ग) प्रोक्त हनुमद् महिमा प्रतिपादक अध्याय का पाठ हनुमान् जी को उनकी महिमा का स्मरण कराने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार करने पर श्री हनुमान् जी शीघ्र ही प्रसन्न होकर साधक की अभीष्ट सिद्धि सम्पन्न करते हैं। सुन्दरकाण्ड के परायण की विधि विशेषज्ञों के द्वारा अनेक प्रकार से प्रतिपादित है, यथा—एक दिवसीय, द्विदिवसीय, नवाह्निक, चतुर्दशदिवसीय, मासद्वयात्मक, ६८ दिवसीय आदि।

१. एक दिवसीय—एक ही दिन में अखण्ड पाठ करते हुए सुन्दरकाण्ड के समस्त ६८ अड़सठ सर्गों का पाठ करना है।

२. द्विदिवसीय—इस विधि में प्रथम दिन ४८ सर्ग के पश्चात् विराम करके दूसरे दिन सम्पूर्ण पाठ सम्पन्न करना होता है।

३. नवाह्निक—आठ दिन तक प्रतिदिन ७–७ सर्गों का पाठ करते हुए नवें दिन ५७–६८ सर्ग तक पाठ पूर्ण करना है।

४. चतुर्दश दिवसात्मक—इस विधि में १३ दिन तक प्रतिदिन ५–५ सर्ग पाठ करते हुए अन्तिम दिन ६६–६८ सर्ग का पाठ सम्पन्न किया जाता है।

५. मासद्वयात्मक वृद्धिक्रम पाठ—६० दिन की इस विधि में २०–२० दिन के तीन चरण होते हैं। प्रथम २० दिन का क्रम निम्नलिखित है। इस क्रम में प्रतिदिन सर्गों का पाठ वृद्धि क्रम को प्राप्त होता है तथा २० दिन में तीन आवृत्ति होती है। ऐसा लगतार तीन बार करने से ६० दिन में नव आवृत्ति होती है—

दिन	सर्ग
१	१
२	२–३
३	४–६
४	७–१०
५	११–१५
६	१६–२१
७	२२–२८
८	२९–३६
९	३७–४५
१०	४६–५५
११	५६–६६
१२	६७–६८ एवं १–१०
१३	११–२३
१४	२४–३७
१५	३८–५२
१६	५३–६८
१७	१–१७
१८	१८–३५
१९	३६–५४
२०	५५–६८

६. ६८ दिवसीय पाठ—६८ दिन के इस प्रयोग में प्रतिदिन १ सर्ग, ३ सर्ग, ५ सर्ग, ७ सर्ग या ९ सर्गों का पाठ समान संख्या पर करने से ६८ दिन में क्रमशः १, ३, ५, ७ या ९ सुन्दरकाण्ड के पाठ सम्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार सुन्दरकाण्ड के परायण की विधियों में प्रचलित हैं जो साधक के सामर्थ्य के अनुसार सफलता देती है।

तन्त्र शास्त्र के आदि प्रवर्तक एवं देवता भगवान् शङ्कर हैं। इनके ग्यारहवें रुद्र रूप का अवतार होने से श्री हनुमान् भी इस शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हैं। यद्यपि इनके प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। फिर तान्त्रिक वाङ्मय में इनके विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है। ये परम विद्वान् एवं अमर देवता है। अपने भक्त का सदैव ध्यान रखते हैं, इनकी साधना वीर साधना है। ये रुद्रावतार, अद्वितीय बल, अद्भुत वीरता, अखण्ड ब्रह्मचर्य, योगी, सङ्गीत, ज्ञान तथा तन्त्र शास्त्र के महान् अध्येता, सेवा, साधना एवं भक्ति के समुज्ज्वल प्रतीक हैं। इनके माध्यम से श्रीराम दर्शन के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से इनका सम्बन्ध शिव से अंशावतार के कारण तथा विष्णु से सेव्यसेवक सम्बन्ध के कारण है। अत: दोनों शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों में इनकी गणना होना महत्त्वपूर्ण है। इनके अनुष्ठान में सच्ची एवं शुद्ध हृदय भावना चाहिए। ये केवल स्मरण, जप स्तुति मात्र से ही सरलतया प्रसन्न हो जाते हैं। इनकी साधना में विस्तृत कर्मकाण्ड अपेक्षित नहीं है, न ही विपुल सामग्री की। ये केवल भक्ति भाव से ही प्रसन्न होकर सद्य: फलदायी हैं। जो इनका विलक्षण वैशिष्ट्य है। तान्त्रिक परम्परा सतोगुणी श्री हनुमान् की अर्चना वा भक्ति के लिए अनेक सरल पद्धतियां या विधियां प्रस्तुत करती है, जिनके विषय में संक्षिप्त सङ्केत यहां दिया गया है। *हनुमान चालीसा, बजरंग बाण, सुन्दरकाण्ड* जैसे सरल और सहज मन्त्र सर्वजन ग्राह्य तथा प्रचण्ड कार्यसाधक हैं। द्वादशाक्षरी मन्त्र अपेक्षाकृत कठिन मार्ग के परिचायक हैं। वस्तुत: श्री हनुमान् के चरित में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म की त्रिवेणी का समन्वय हुआ है। अत: इनके भक्तों के लिए बहुविध मन्त्रों का विधान हुआ है। जहां उग्रता एवं सरलता का श्रद्धाभक्ति के साथ मनोरम समन्वय है। श्री हनुमान् का चरित लोकोपकारक तथा सर्वथा वन्दनीय है। मेहन्दीपुर तथा सालासर धाम इसी सत्य की प्रतिष्ठा का प्रबल प्रमाण है, जो सङ्कटमोचक श्री हनुमान् की साधकों और भक्तों पर निश्छल कृपा का प्रमाण है।

सहायक आचार्य,
दर्शनविभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ३०२००४

वैदिक एवं आगमिक साधनाओं का अन्त:सम्बन्ध

डॉ .पुष्पा त्रिपाठी

विश्व वाङ्मय में *ऋग्वेद* सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसी के दृढ़ आधार पर परवर्ती वैदिक साहित्य स्थित है तथा वैदिक साहित्य के ऊपर उत्तरवर्ती भारतीय वाङ्मय आधृत है। ऋग्वेद में प्रधानत: विभिन्न देवताओं का मनमोहक तथा गहन स्तवन प्रस्तुत किया गया है। ऋषियों को वैदिक मन्त्रों का द्रष्टा माना गया है। उन्हें अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त था। अपनी दैवी प्रतिभा के सहारे अपने प्रातिभचक्षु से उन्होंने इन मन्त्रों का दर्शन किया जिससे वैदिक ऋचाएँ प्राप्त हुईं। ऋषियों ने इन ऋचाओं के उपयोग एवं व्याख्यान हेतु चिन्तन किया तब ब्राह्मण भाग का अभ्युदय हुआ, जिसमें यज्ञ का विधान कब कैसे, किन साधनों से किया जाए एवं इसके अधिकारी कौन हैं, इसका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। कालान्तर में आध्यात्मिक मन्त्रों का मनन कोलाहलपूर्ण वातावरण में सम्भव न होने के कारण अरण्य में जाकर अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया। वे आरण्यक नाम से जाने जाते हैं। तदुपरान्त उपनिषदों का प्राकट्य हुआ। इनमें प्रोक्त विद्याओं का यथावत् साधना विधान प्राप्त न होने से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा पुन: चिन्तन किया गया तब तन्त्रागमों की प्राप्ति हुई।

तन्त्रागमों में वैदिक तथा पौराणिक साधनाओं का सम्पूर्ण विवेचन प्राप्त है। तन्त्रागमों में मन्त्रयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि समस्त साधनाओं की पद्धति प्राप्त होती है। अत: साधना के लिए आचार्यों ने आगमपद्धति को श्रेष्ठ माना है। *श्रीमद्भागवतमहापुराण* आध्यात्मिक वाङ्मय का वरिष्ठ ग्रन्थ है। इसमें वैदिक ऋचाओं के तत्-तत् प्रकरणों का यथार्थ अनूदित किया गया है एवं तन्त्रागम सिद्धान्तों का मौलिक एवं विस्तृत विवेचन निहित है। इसके एकादश स्कन्ध में लिखा है, **'वैदिको तान्त्रिको मिश्र: इति मे त्रिविधो मख:'** वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र' अर्थात् वेद, तन्त्र एवं मिश्रित यागों का वर्णन है।

वैदिक वाङ्मय के आध्यात्मिक भाग उपनिषदों में प्रोक्त विद्याओं की साधना की तन्त्रागमों में विस्तृत पद्धतियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार पुराणों में भी वैदिक एवं आगमिक साधनाओं का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। वैदिक देवताओं की साधना तान्त्रिक विधि से करने पर शीघ्र लाभ होता है एवं इसकी विस्तृत एवं सरल पद्धति तन्त्रागमों में प्राप्त होती है। इसी प्रकार उपनिषदों में प्रोक्त श्रीविद्या, दहरविद्या, मधुमतीविद्या, महाविद्या, कुण्डलिनी आदि महाविद्याओं की साधना का तान्त्रिक वाङ्मय में विवेचन प्राप्त होता है। जैसे—*भावनोपनिषद्, अरुणोपनिषद्, कुण्डलिन्युपनिषद्, शिखोपनिषद्।*

तन्त्रों में दो सम्प्रदाय हैं—१. कादिमत और २. कालिमत। कादिमत की अधिष्ठात्री मधुमती देवी और कालिमत की अधिष्ठात्री मालिनी देवी है। आगमतन्त्रों में वेद मन्त्रों को तान्त्रिक मन्त्रों से सम्पुटित करके साधना करने का विधान है। जैसे—*वाञ्छाकल्पलता।* इसके द्वारा साधक को शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

ऋग्वेद में विष्णु का स्तवन मात्र पाँच सूक्तों में किया गया है परन्तु कालान्तर में ये प्रमुख देवता के रूप में प्रसिद्ध हो गये। भगवान् विष्णु की सबसे बड़ी विशेषता उनके तीन लम्बे डग हैं। विष्णु के स्वरूप में तीन संख्या का अपना अलग ही महत्त्व है। ये तीन पदक्रम करने वाले, तीन लोकों को नापने वाले तथा लोकत्रय धारक हैं। इसी क्रम में त्रिधातु—सत्त्व, रज, तम का समीकृत रूप अथवा पृथिवी, जल और तेज से युक्त हैं। विष्णु का आवास परमपद के नाम से अभिहित है। यह परमपद प्रकाश से युक्त तथा स्थाई मधु का स्रोत है—

विष्णुः पदे परमे मध्व उत्सः। — *ऋग्वेद* १.१५४.५

वैदिक मन्त्रों की तान्त्रिक साधना पद्धतियाँ प्रतिपादित हैं—जैसे प्रणव (विष्णु) वेद का सर्वोत्कृष्ट मन्त्र माना जाता है। उसकी सरल साधना विधि तन्त्रों में प्राप्त होती है जैसे—*सारसंग्रह* में लिखा है—मैं प्रणव मन्त्रों की साधना का वर्णन करता हूँ जो पापपुञ्ज को नष्ट करने वाला है। नाना मनोरथों को पूर्ण करने वाला, मनुष्यों को श्रेयस सिद्धि देने वाला मुनिवृन्द द्वारा सेवित है। इसमें विष्णु के स्वरूप का ध्यान है—

निर्मलाङ्गश्रियं विष्णुं पीतकौशेयवाससम्।
सर्वतो भासमानेन तेजसा भास्करद्युतिम्।।

श्रीविद्यार्णवतन्त्र के एकादश श्वास में विष्णु के स्वरूप का ध्यान वर्णित है। विष्णु का ध्यान करके '**ॐ नमो भगवते विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा**' जप करने का विधान प्राप्त होता है। *श्रीविद्यारत्नाकर* में श्रीक्रम की चतुरायतन पूजा में विष्णु की पूजा उपन्यस्त है। इसमें न्यास, ध्यान एवं आवरणपूजा की विधि भी प्रतिपादित है। (*श्रीविद्यारत्नाकर*, पृ. १६२)

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्।।

इस ध्यान के अनन्तर विष्णु का आवाहन कर उन्हें आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्रालङ्कार, यज्ञोपवीत आदि समर्पित करने का विधान है। तदुपरान्त आवरणपूजा, अष्टाक्षरी मन्त्र से विष्णु का तर्पण और पुनः धूप, दीप, नैवेद्य, पानीय, उत्तरापोशन, हस्तप्रक्षालन, पादप्रक्षालन, आचमनीय, कर्पूरनीराजन आदि के द्वारा पूजाविधि सम्पन्न करने का विधान है।

'**नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्**' इस मन्त्र से ध्यान करके पुष्पाञ्जलि और प्रदक्षिणा की जाती है। श्रीयन्त्र के पूजाक्रम में विशेषार्घ्य स्थापन विधि में ऋग्वेद के विष्णुसूक्त के मन्त्रों द्वारा विष्णुकला में विशेषार्घ्य को अभिमन्त्रित करने का विधान है—

'टं जरायै नमः, ठं पालिन्यै नमः, डं शान्त्यै नमः, ढं ईश्वर्यै नमः, णं रत्यै नमः, तं कामिकायै नमः, थं वरदायै नमः, दं ह्लादिन्यै नमः, धं प्रीत्यै नमः, नं दीर्घायै नमः।'

प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेऽध्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।। नमः।

ईश्वर कला में—षं पीतायै नमः, सं श्वेतायै नमः, हं अरुणायै नमः, क्षं अक्षितायै नमः।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवी चक्षुराततम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम्।।

वेदों में वर्णित गायत्री मन्त्र जिसके देवता सविता हैं आगमिक ग्रन्थ *शारदातिलक* में वर्णित हैं। उसमें कहा गया है—अब मैं गायत्री मन्त्र को कहता हूँ जो तत्त्वरूप है, तीनों वेदों का सार है, सच्चिदानन्दघन का प्रकाश होता है—

अथो वक्ष्यामि गायत्रीं तत्त्वरूपां त्रयीमयीम्।
यथा प्रकाश्यते ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।।

इस गायत्री मन्त्र का आगमिक विधान में ऋषि—विश्वामित्र, देवता—सविता, छन्द—गायत्री एवं मन्त्र के विविध न्यास प्रतिपादित किये गये हैं। गायत्रीमन्त्र का विस्तृत पूजन प्रकार भी वर्णित है। इस तान्त्रिक पद्धति से गायत्री की उपासना करने से शीघ्र अनुभूति होने लगती है। इसमें गायत्री मन्त्र का अर्थ, गायत्री हृदय, गायत्री कवच, गायत्री पूजाविधि वर्णित है। आवरणपूजा का विधान भी प्रतिपादित है। गायत्री मन्त्र को पञ्चदशाक्षरी मन्त्र से सम्पुटित कर 'तत्सवितुर्वरेण्यं (पञ्चदशीमन्त्र का प्रथम कूट) भर्गोदेवस्य धीमहि (पञ्चदशी का द्वितीय कूट) धियो यो नः (पञ्चदशी का तृतीय कूट) प्रचोदयात्' जप करने का विधान है। (*श्रीविद्यार्णवतन्त्र* एकादशश्वास, पृ. २०८)

सूर्यादि नवग्रहों के वैदिक मन्त्रों का तान्त्रिक विधि से प्रयोग करने का विधान प्राप्त होता है। *श्रीविद्यार्णवतन्त्र* में सूर्य के अर्घ्यदान की विधि भी प्रतिपादित है—

रक्ताम्भुजासनमशेषगुणैकसिन्धुं भानुं समस्तजगतामधिपं नमामि।

– *श्रीविद्यार्णवतन्त्र* ४२

स्मृति संग्रह में सूर्य का अर्चन तथा ध्यान, सूर्यमन्त्र प्रयोग, सूर्यस्तोत्र आदि प्रकरण उपन्यस्त हैं। *श्रीविद्यारत्नाकर* ग्रन्थ में श्रीक्रम के चतुरायतन पूजा में भी स्वरूप का स्तवन एवं न्यासादिक पूजा तथा अर्चन

की विधि वर्णित है। श्रीयन्त्र पूजनक्रम में सूर्यमण्डल, पूजन, सामान्यार्घ्य स्थापन के बाद सविता देवता का ध्यान किया गया है—

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्।
हां हीं हूँ हैं हौं हः हमलवरयूम् सूर्यमण्डलाय नमः।

इस मन्त्र का ध्यान कर द्वादश सूर्यकलाओं के पूजन का विधान है।

ऋग्वेद के द्युस्थानीय देवता वरुण की ऋचा का विधान *शारदातिलक* में वर्णित है। इसके ऋषि—वसिष्ठ, छन्द—त्रिष्टुप एवं देवता वरुण हैं।

ऋचोविधानं वारुण्या यथावदभिधीयते।
ऋग्वेदे सा समुदिष्टा ध्रुवास्वाहा मनीषिभिः।। – *श्रीविद्यार्णव.* ७२८

इस मन्त्र में वरुण के स्वरूप का ध्यान किया गया है—

चन्द्रप्रभं पङ्कजसन्निषण्णं पाशाङ्कभीतिप्रवरं दधानम्।। –*श्रीविद्यार्णव.* ७२८

इसके यन्त्र का षडङ्ग न्यासादिक वर्णन है।

ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त के मन्त्रों को पञ्चदशी के मन्त्रों द्वारा सम्पुटित करके जप करने का विधान प्राप्त होता है—

सहस्रशीर्षः पुरुषः (पञ्चदशी का प्रथम कूट) **सहस्राक्षः सहस्रपात्।** (पञ्चदशी द्वितीय कूट)

स भूमिं विश्वतो वृत्वा (पञ्चदशी तृतीय कूट) **अत्यतिष्ठति दशाङ्गुलम्।।**

श्रीसूक्त एवं रुद्रसूक्त के मन्त्रों का भी पञ्चदशी कूट से सम्पुटित कर जप करने का विधान है। वैदिक कर्मकाण्ड में भी तान्त्रिक मन्त्रों द्वारा पूजन करने का विधान है। इस प्रकार वैदिक और आगमिक साधनाओं का अन्तःसम्बन्ध सुस्पष्ट परिलक्षित होता है।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी

❑

सर्वपूर्त्तिकरी श्रीललितात्रिशती

आशुतोष जोशी

मैं उस त्रिपुरेश्वरी को प्रणाम करता हूँ जो सदैव बाला (षोडशी) रूप में ही रहती है। इसी रूप में जिसका ध्यान होता है। त्रिपुर की ईश्वरी शिव की शक्ति ही है क्योंकि जब शिव त्रिपुर विजय के लिए प्रस्तुत होता है तो वह बिना शक्ति के कुछ नहीं कर सकता। उसके लिए शिव को शक्ति समन्वित होना पड़ता है। शक्ति और शक्तिमान् की अभेदात्मिका दृष्टि ही त्रिपुर विजय में सहायक होती है।

त्रिशती की रचना

अगस्त्य ऋषि ने हयग्रीव से कहा भगवन् आप दयालु हैं। शिष्य को पुत्रवत् प्यार देते हैं। आपसे मैंने बहुत-सी सुनने योग्य बातें सुनी हैं। रहस्यपूर्ण ललिता सहस्रनाम के सुनने के बाद कोई भी वस्तु सुनने योग्य नहीं रह जाती, यह निश्चित है। सहस्रनाम सुनने के बाद भी मेरे चित्त की तृप्ति नहीं हुई। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसका और भी कुछ ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य अंश है। यदि ऐसा है तो मैं आपको प्रणाम करता हूँ, कृपा कर उस अंश को भी सुनाने की कृपा करें।

यह कहकर अगस्त्य ऋषि ने हयग्रीव के दोनों पाँव पकड़ लिये। श्री हयग्रीव जी ने भयभीत होकर कहा—यह क्या कर रहे हो, पैर छोड़ो और वे स्वयं चिन्तित हो गये। ललिताम्बा की आज्ञा को स्मरण करते हुए सोचने लगे कि आगे मुझे कुछ नहीं कहना है और मौन होकर बैठे रहे। अगस्त्य भी अपनी बात के पक्के थे, पैर पकड़े तो पकड़े ही रहे। दिन बीते, पक्ष बीते, मास बीते परन्तु पैर नहीं छोड़े। तीन वर्ष तक पैर पकड़े रहे। गुरु शिष्य जैसे बैठे थे, वैसे ही तीन वर्ष बिता दिये। यह देखकर देखने वालों ने आश्चर्य किया कि गुरु और शिष्य दोनों ही अपने बात के पक्के हैं। ऐसी अवस्था जानकर कामेश्वर और कामेश्वरी दोनों प्रकट हुए और एकान्त में हयग्रीव को निर्देशित किया।

तब देवी ने कहा—'तुम्हारा शास्त्रों में विश्वास होने के कारण हम दोनों तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। राजा से कोई राज्य की याचना करे तो राज्य दे देना चाहिए।

राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोडशाक्षरी।। — *ललितात्रिशती* १०

कोई सिर माँगे तो वह भी दे दें पर सोलह अक्षरों वाली विद्या न दे। अतः इस विद्या को गुप्त ही रखें, सबके सामने प्रकट न करें।'

अगस्त्य को त्रिशती की प्राप्ति

'हे हयग्रीव त्रिशती गोपनीय है, इसका नाम सर्वपूर्तिकरी स्तुति है। इस स्तुति को हम दोनों ने कहा है। इसको हमने गुप्त रखा है। मेरी आज्ञा पाकर वशिनी आदि वाग्देवियों ने *ललितासहस्रनाम* की रचना की। हम दोनों ने त्रिशती को इसलिए कहा कि क्रियालोप होने से विकृतियाँ पैदा होती हैं। यह स्तुति क्रियालोप की पूर्ति करती है। इसीलिए इसका नाम मैंने सर्वपूर्तिकरस्तव दिया है। यह स्तव तुम अगस्त्य को दे सकते हों क्योंकि वह इसका पात्र है। इसकी पत्नी लोपामुद्रा मेरी उपासना बहुत भक्ति से करती है। अगस्त्य भी मेरा भक्त है, अत: यह स्तव इसे कह दो। तीन वर्ष तक यह तुम्हारे पैर पकड़कर बैठा रहा इससे अधिक मेरी भक्ति का सच्चा क्या प्रमाण हो सकता है। इस स्तव के बिना इसके चित्त में शान्ति नहीं होगी। इसलिए मैं आज्ञा देती हूँ कि सर्वपूर्तिकारकस्तव उसे कह दो।

यह कहकर कामेश्वरी और कामेश्वर दोनों ही अन्तर्धान हो गये। इसके बाद हयग्रीव ने आश्चर्यचकित हो अगस्त्य को हाथों से पकड़कर कहा, उठो मेरे पास आकर बैठो। तुम कृतार्थ हो, तुम्हारे जैसा ललिता भक्त तीनों लोकों में भी नहीं है। तुम्हारे प्रस्ताव को देवी ने स्वयं माना है। जिस देवी के दर्शन के लिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि तरसते हैं उस देवी का दर्शन आज मुझे तेरे जैसे श्रेष्ठ शिष्य के कारण हुआ। अब मैं तुम्हें वह सर्वपूर्तिकारकस्तव कहूँगा जिससे तुम्हारे चित्त की तृप्ति एवं शान्ति होगी।

त्रिशती का वर्ण्य

यह स्तोत्र ललिता सहस्रनाम से भी गूढ़ रहस्य युक्त है और ललिता की उपासना के लिए यह आवश्यक है। कादि पञ्चदशी के वर्णों के क्रम से एक वर्ण के २०-२० नाम हैं। यह रहस्य से भरा है। इसकी रक्षा करना। ये केवल नाम ही नहीं हैं, मन्त्र हैं, एकाग्रचित्त होकर सुनो। यहाँ तक पूर्व पीठिका है।

अगस्त्य! श्री ललिताम्बा के ये तीन सौ नाम अति गोपनीय हैं और गूढ़ रहस्य युक्त हैं। श्रीविद्या में शिवात्मक वर्ण शक्ति द्वारा कहे गये हैं और शक्ति अक्षर श्रीकामेश्वर द्वारा कहे गये हैं। उभयात्मक अक्षर दोनों का सहगान है। श्रीदेवी को प्रसन्न करने वाला इसके समान दूसरा कोई स्तव नहीं है, इससे तीनों लोकों का कल्याण होगा। यह स्तोत्र सुनकर अगस्त्य ने प्रणाम करते हुए कहा—इस पर और भी प्रकाश डालिये। इसमें शिववर्ण कौन-से हैं, शक्त्यक्षर कौन-से हैं और उभयात्मक अक्षर कौन हैं।

हयग्रीव ने कहा—यह स्तोत्र अम्बा की आज्ञा से ही तुम्हें दिया है, इसके ज्ञान मात्र से ही श्रीविद्या सिद्धियाँ दे देती है।

इस विद्या में तीन ककार दो हकार अक्षर शिव के हैं, शेष अक्षर शक्ति के हैं। माया बीज उभयात्मक है। इस अक्षर विभाग को जो न जानकर स्तवन करता है उसे कुछ भी नहीं प्राप्त होता, सिद्धि तो दूर की बात है और श्रीयन्त्र चार शिव चक्र एवं पाँच शक्ति चक्र से मिलकर नौ चक्र वाला बनता है। इसे शिव शिवा का शरीर ही समझना चाहिए। त्रिकोण, अष्टकोण, दो दश कोण, चतुर्दश कोण ये पाँच शक्ति चक्र हैं और बिन्दु,

अष्टदल पद्म, षोडश दल पद्म और चतुरस्र (भूपूर) ये चार शिव चक्र हैं। इस चक्र में एक-दूसरे से सम्बद्ध है जैसे बिन्दु त्रिकोण से मिला हुआ है। अष्टार, अष्टदल पद्म से दो दशारों से षोडश दल श्लिष्ट है और भूगृह चौदह कोणों से श्लिष्ट है। इस प्रकार शिव और शिवा के चक्रों का नित्य सम्बन्ध न जाकर कोई अर्चना करता है तो उसे कोई फल नहीं मिलता तथा ललिताम्बा भी सन्तुष्ट नहीं होती। इस विद्या के रहस्यों का जानने वाला अति दुर्लभ है, यदि मिले तो उसका आदर-सत्कार कर रहस्य का आदान-प्रदान करें।

जो प्राणी अविद्या (भूत-प्रेत-पिशाचादि) के मन्त्र जाप करते हैं, वे गहरे अन्धकार में फँसकर अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारते हैं।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यां समुपासते।
इति श्रुतिरपाहैतान् विद्योपासकान्पुनः।।

उनकी श्रुतियों में निन्दा की गयी है। आरण्यक श्रुति कहती है—

अश्रुता स श्रुतासश्च यज्वानो येऽप्ययज्वनः।
स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते इन्द्रमग्निं च ये विदुः।। *ललितात्रिशती* उत्तरपीठिका २२

अश्रुतासः— जिनके अन्तःकरण शुद्ध नहीं हैं अर्थात् जिनके अन्तःकरण कल्मष युक्त हैं।

श्रुतासः— जिनके अन्तःकरण शुद्ध हैं, जिनके अन्तःकरण का मल नष्ट हो चुका है।

यज्वानः— यज्ञाधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण।

अयज्वनः— जिनको यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। (तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवलक्लृप्तः।) श्रुति कहती है—चक्रविद्या में तो शूद्रों का भी अधिकार है।

स्वर्यन्तः— चक्र विद्या जानने वाले कोई भी हों वे 'स्वर्यन्तो नोपेक्षन्ते' स्वर्ग में जाने की अपेक्षा नहीं करते वे तो सीधे ब्रह्मलोक के अधिकारी होते हैं—इन्द्रमग्निं च ये विदुः।

सिकता इव संयन्ति रश्मिभिस्समुदीरिताः।
अस्माल्लोकादमुष्माच्चेत्याह चारण्यकश्रुतिः।। *ललितात्रिशती* उत्तर पीठिका २१.२२

सुर-असुर, यक्ष-गन्धर्व, किन्नर-मनुष्यादि से पूजित सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामी और सर्वत्र व्यापक रूप से स्थित विश्व की सृष्टि स्थिति संहार करने वाली श्रीचक्र विद्या से भिन्न इन्द्रादिलोकपालों तथा अन्य निम्न श्रेणी के देव उपदेवों की उपासना करते हैं, वे बालू के कणों की तरह इधर-उधर पकड़कर भ्रष्ट हो जाते हैं और यम के पाश से बन्ध जाते हैं। इस लोक से तो भ्रष्ट होते ही हैं, स्वर्ग से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। (अन्धतमः प्रविशन्ति। *ललितात्रिशती* २१)

ज्ञान मार्ग के विरुद्ध अन्यों की सेवा करने वाले अन्धतामिस्रादि को प्राप्त करते हैं। यह प्रश्न आदि ऋषियों के द्वारा कही गयी आरण्यक श्रुति है।

हयग्रीव ने कहा—अगस्त्य मुने! यह श्रीविद्या उसी को मिलती है जिसका मनुष्य योनि में अन्तिम जन्म हो अन्यथा अन्तिम जन्म न हो तो चाहे शिव ही क्यों न हो उसको भी इस विद्या को प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं होता है। यह श्रीविद्या उसी को प्राप्त होती है जिसकी सब योनियों से मुक्ति होकर मोक्ष होने वाली हो, फिर वह संसार में जन्म नहीं लेगा। शिल्प शास्त्री विद्वान् नहीं कहलाते, श्रीविद्या का जानकार ही विद्वान् कहलाने के योग्य होता है। यह मैंने तुझे प्रसङ्ग से कह दिया है, प्रकृत में क्या है वह अब सुनो। इस स्तव का एक नाम पढ़ने और सहस्रनाम का एक करोड़ पाठ करना बराबर है जिसको भविष्य में श्री की वृद्धि उत्तरोत्तर होना है, उसे ही यह मिलता है। इसलिए और से इसकी तुलना न करें। सन्देह हो तो परीक्षा करके देख सकते हैं।

पाठ विधि

पाठ करने की कुछ विधियाँ होती हैं। वही हयग्रीव ने अगस्त्य को बतलाया है। वे विधियाँ हर एक कर्म में की जाती हैं। भोजन सिद्ध करने के लिए पहले सामग्री एवं उपकरण जुटाना पड़ता है। मकान बनाने में, खेत की बुआई में, तात्पर्य यह कि हर कर्म में कुछ अपने तरीके के उपकरण एवं साधनों की आवश्यकता होती है, वैसे ही इन स्तोत्रों के पाठ में भी अपनी-अपनी विधि है। जैसे—प्रतिदिन सोलह-सोलह ब्राह्मणों को भोजन कराना, ऐसे तीन सौ को कराना चाहिए। उन ब्राह्मणों को तैलाभ्यङ्ग कर कदुष्ण जल से स्नान कराकर नूतन वस्त्र धारण कराएँ और गन्ध पुष्पों द्वारा त्रिशती के एक-एक नाम से उनकी अर्चना करें। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त ब्राह्मण भी विद्योपासक हों। शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक यह विधि करें।

दूसरा विधान यह है कि प्रतिदिन बीस-बीस ब्राह्मणों को भोजन दें। ऐसे १५ दिन में तीन सौ होंगे। दस दिन में कार्य सम्पन्न करना हो तो तीस-तीस ब्राह्मणों को भोजन दें। पाँच दिन में करना हो तो ६० को। तीन दिन में सौ को और एक दिन में सम्पन्न करना हो तो तीन सौ को एक साथ भोजन कराएँ। इस प्रकार अपने जन्म में एक बार भी जो करता है तो वह मोक्षाधिकारी निश्चित होगा।

विशेष विधि यह है—ब्राह्मण भोजन के प्रथम सोलह नित्या देवियों के नाम से बलि प्रदान करें।

रहस्य देवियों द्वारा कथित सहस्रनाम की महिमा इस त्रिशती के एक नाम की जलकणिका के समान है। जब वाग्देवियों द्वारा कहा गया स्तोत्र इतना महत्त्व का है तो यह त्रिशती स्तोत्र तो स्वयं कामेश्वर-कामेश्वरी द्वारा कहा गया है, इसकी समानता नहीं हो सकती।

इसके जानने के बाद कुछ शेष नहीं रहता। जो कार्य सिद्ध करने के लिए अन्य तन्त्रों में लिखा गया है, असाध्य कार्य भी इसके जप से शीघ्र हो जाता है। संदेह की स्थिति में इसकी परीक्षा कर देख लिया जाए। इसके जप से आयु बढ़ती है। यह पुष्टिकर्त्ता है, पुत्र देता है, इससे वशीकरण होता है, विद्या, कीर्ति, कवित्व शक्ति, सम्पत्ति, भोग, सौख्य सभी अभीष्टों की प्राप्ति होती है। इसके पाठ से ललिताम्बा प्रसन्न होती है। भक्त

को जिस वस्तु की इच्छा होती है। उसकी पूर्ति करती है। इसलिए हे अगस्त्य तुम इसका हमेशा जाप करो। इसके जानने के बाद कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता है।

एक बात ध्यान देने की है, जो श्रीविद्या नहीं जानता है उसे कदापि यह त्रिशती न दे और साथ में माँ का भक्त न हो, मूर्ख हो, दुष्ट हो, अविश्वासी हो उसे भी न दें। यदि ऐसा करता है तो अनर्थ का भागी होता है, शङ्कर की आज्ञा है, अत: इसकी रक्षा करें। मैंने श्री ललिताम्बा की प्रेरणा से ही तुम्हें यह स्तोत्र कहा है। इसलिए सहस्रनाम से यह स्तोत्र अति गोपनीय है। इसके बाद श्री अगस्त्य इस स्तोत्र पाठ के आनन्द में विभोर हो गये, यही इसकी कहानी है।

श्री ललिता त्रिशती नाम स्तोत्रों में दिव्य स्तुति है, पुराणों में कहा गया है—

चण्डिका स्तुतिपाठेन नमस्कारेण भास्कर:।
अलङ्कारैर्हरिस्तुष्येदभिषेकेण शङ्कर:।।

देवी स्तुति से प्रसन्न होती है, सूर्य नमस्कार से, विष्णु अलङ्कार आभूषण से और शिव अभिषेक से प्रसन्न होते हैं। इसे तो स्वयं कामेश कामेशी ने प्राणियों के हितार्थ सहगान के रूप में प्रकट किया है, अत: इसका नाम 'सर्वपूर्तिकर' किया है। इसके नामार्थ जानने में जटिलता अनुभव कर जगद्गुरु श्रीआद्य शङ्कराचार्य ने भाष्य भी किया है।

यह भाष्य अपने आपमें नवीन, अनुपम और एकमात्र भाष्य है। मूलत: संस्कृत भाषा में निबद्ध इस भाष्य में वैदिक गूढ़ तत्त्वों से श्रीविद्या तत्त्व को विवेचित किया गया है।

२/६२, जी.ए.डी. फ्लेट्स,
गांधीनगर, जयपुर ३०२०१५
०९४१३९९४४७५

संस्कृत साहित्य में आद्यशक्ति स्वरूपा देवी का माहात्म्य

डॉ .स्मिता द्विवेदी

शब्द कोष के अनुसार शक्ति शब्द की व्युत्पत्ति शक् धातु तथा क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न होती है, जिसका तात्पर्य है वह साधना जिससे कोई भी व्यक्ति कुछ भी करने में समर्थ हो पाता है।

महामाया के द्वारा ही परब्रह्म परमेश्वर से विश्व की सृष्टि होती है। सृष्टि हो जाने पर भी उसके विस्तार की आशा तब तक नहीं होती जब तक चेतन पुरुष की उसमें आसक्ति न हो, अत: सृष्टि के विस्तार हेतु काम का प्रादुर्भाव हुआ। रज:, सत्त्व के सम्बन्ध से द्वैत सृष्टि का विस्तार होता है। शिव जब शक्ति से युक्त होते हैं तभी वह सृष्टि निर्माण में समर्थ होते हैं अन्यथा उनमें स्पन्दन तक सम्भव नहीं।

सभी विद्याएँ देवी के ही भेद हैं। संसार में जो भी स्त्रियाँ हैं वे सब देवी के ही रूप समस्त संसार में एक ही तत्त्व हैं वह है देवी तत्त्व या शक्ति तत्त्व। जैसा कि मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत *श्रीदुर्गासप्तशती* (११.६) में कहा भी गया है—

विद्या: समस्तास्तव देवी भेदा:। स्त्रिय: समस्ता: सकला जगत्सु।।

रूपातीत पराशक्ति ही सिसृक्षा के वशीभूत होकर विश्व रूप में आकार ग्रहण कर लेती है। एकमात्र देवी ही सृष्टि से पूर्व थी उन्होंने ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। वे कामकला के नाम से विख्यात हैं वे ही शृङ्गार कला भी कहलाती हैं। चिद्रूपा भगवती स्वतन्त्र रूप से निर्विकार रूप से अनन्त विश्वों के रूप स्फुरित होती हैं।

चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति।

—*प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र २*

शक्ति तत्त्व से बढ़कर कोई भी नहीं है। शक्तिमान् भी तभी तक शक्ति सम्पन्न है जब तक शक्ति से सम्बद्ध है। शिव शब्द के 'श' में इकार निकाल दिया जाए तो शिव (शव) मात्र रह जाएंगे। शक्ति के बिना शिव का अस्तित्व ही नहीं रह जाता—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं। —*सौन्दर्यलहरी १*

ऋग्वेद के देवी सूक्त में देवी की ही सर्वव्यापकता का वर्णन है। रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वदेव, मित्रावरुणा, इन्द्र, इग्नि, सोम, त्वष्टा, पूषा तथा भग आदि इन सबमें देवी की ही शक्ति निहित है यह जानकर जो लोग देवी की आराधना करते हैं, देवी उन्हें धन-धान्यादि से सम्पन्न करती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।
अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।।

— *ऋग्वेद* १०.१२५.१-२

सारस्वत साधकों की दृष्टि में वेद हो या तन्त्र व्याकरण हो या स्थापत्य, साधना हो या भक्ति, निर्गुण हो या सगुण उपासनाएँ, लोक हो या वेदान्त, प्रत्येक स्थान पर शक्ति की ही प्रमुखता देखने को मिलती है।

पौराणिक साहित्य में इस शक्ति को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। कहीं दुर्गा, काली, श्रद्धा, माया, सीता, सावित्री, अनुसूया तो कहीं अन्नपूर्णा, लक्ष्मी, सरस्वती, पृथ्वी, रात्रि, पीताम्बरा, बगलामुखी, त्रिपुरसुन्दरी, राजराजेश्वरी, भुवनेश्वरी—इत्यादि महाविद्याओं की आराधना की गई है।

जिस प्रकार ऋग्वेदीय ऋषियों ने ब्रह्म में ही सभी देवताओं का अन्तर्भाव माना है। उसी प्रकार दूसरी ओर समस्त देवियों को भी वे तत्त्वतः एक ही मानते हैं यथा—'अहं रुद्रेभिर्वसुभिः' इत्यादि।

इस शक्ति तत्त्व के माध्यम से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सञ्चालन होता है, क्योंकि अपनी शक्ति के अभाव में शिव की दिव्यता स्पष्ट ही नहीं हो सकती क्योंकि शिव का स्वरूप ही अर्द्धनारीश्वर है। वाग्, अर्थ स्वरूप है जैसा कि महाकवि कालिदास ने *रघुवंश* महाकाव्य के मङ्गलाचरण में इसे सिद्ध किया है।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। — *रघुवंश* १.१

वस्तुतः पुरुष रूप में ब्रह्म का सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है और नारी रूप में उन्हीं की सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला स्वरूपा शक्ति का सक्रिय भाव है। पुरुष मूर्ति में भगवान् विश्वातीत है, एक है और सर्वथा निष्क्रिय है तथा नारी मूर्ति में वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी रूप में प्रकाशित है। अपने इस नारी भाव के संयोग से ही वे परम पुरुष ज्ञाता कर्त्ता और भोक्ता हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त वैचित्र्य प्रसविनी, लीला विलासिनी महाशक्ति ब्रह्म की स्वरूपभूता है। आनन्द के रूप में विलासित करके उनको आस्वादन के योग्य बना देना इस महाशक्ति का कार्य है। परमपुरुष और उनकी महाशक्ति भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्न-भिन्न रूप से एक ही ब्रह्म स्वरूप में स्वरूपतः प्रतिष्ठित है, यही विचित्र

महारास है जो अनादि अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। इसी स्वरूप को जानने समझने उपलब्ध करने की विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ और साधनाएँ अनुभवी ऋषियों की दिव्य वाणी के द्वारा उनमें प्रकट हुई।

सरस्वतीरहस्योपनिषद् में सरस्वती को परम शक्ति वाणी के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। (*ऋग्वेद*)

वाणी के चार पाद हैं अर्थात् समस्त वाणी चार भागों में विभक्त है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इन सबको मनीषी विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं। इनमें से तीन परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो हृदय गह्वर में स्थित हैं, अतः वे बाहर प्रकट नहीं होतीं परन्तु जो चौथी वाणी वैखरी है उसे ही मनुष्य बोलते हैं। इस प्रकार यहाँ शक्ति के रूप में वाणी स्वरूप सरस्वती देवी की वन्दना की गई है।

अथर्ववेदीय सीतोपनिषद् में सीता जी के स्वरूप का तात्त्विक वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ सीता जी को मूल प्रकृति कही जाने वाली षडैश्वर्य सम्पन्ना भगवती कहा गया है। श्रीसीता जी शक्तिस्वरूपा होकर इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति तथा साक्षात् ज्ञान शक्ति इन तीनों रूपों में प्रकट होती हैं।

ऋग्वेदीय श्रीराधोपनिषद् में श्रीराधा के स्वरूप तथा नामों का माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। यहाँ भगवान् की आह्लादिनी शक्ति श्रीराधिका जी का वर्णन किया गया है। यहाँ श्रीराधा के अट्ठाईस नामों का गान प्राप्त होता है—

राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता।
सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावनविहारिणी।
वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
गान्धर्वा राधिका माया रुक्मिणी परमेश्वरी।।

यहाँ राधा जी को ही मूल प्रकृति ईश्वरी कहा गया है। ये राधा और श्रीकृष्ण ही शरीर से क्रीडा के लिए दो हो गए हैं। ये राधिका जी भगवान् हरि की सर्वेश्वरी सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं और श्रीकृष्ण के प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं।

श्रीमद्भागवत में गोपियों को श्रुतियों के रूप में प्रतिपादित किया गया है—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमत्यटव्यां,
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितुं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द–
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव।। – *श्रीमद्भागवतपुराण* १०.१४.३४

ब्रह्मा जी अब इस बात को जान चुके थे कि श्रुति प्रतिपाद्य यह ब्रह्म ही यहाँ ब्रज में अवतरित हुआ है और इसकी प्रतिपादिका श्रुतियाँ भी यहाँ गोपिका के रूप में अवतरित हुई हैं। यहाँ गोपियों को परब्रह्म परमेश्वर की शक्तियों के रूप में प्रदर्शित कर शक्ति की महिमा को उजागर किया गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति को माया और महेश्वर को माया का पति कहा गया है—

माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। (४.१०)

वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म पहले अकेला था वह रमण नहीं करता था। इसी कारण उसने दूसरे की इच्छा की, उसने अपने को ही एक से दो कर लिया, वे पति पत्नी हो गए।

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्।
स इममेवात्मान द्वेधापातयन्ततः पतिश्च पत्नि चाभवताम्। (१.४.३)

इस युगल रूप में ही ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप का परम उत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है, अतः उमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल स्वरूप नित्य, सत्य और प्रकारान्तर से उपनिषत् प्रतिपादित हैं।

अं.का. प्रवक्ता,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी।

❑

श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी का परिचय

श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई. में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या परम्परा के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रसार के लिए श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामीकरपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरुज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गङ्गाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठित है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसन्धान प्रकाशन विभाग एवं अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवं गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय, साधक प्रशिक्षण/साधकावास एवं अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परिक आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेदशास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ के द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन क्रम में *श्रीविद्यारत्नाकर*, *श्रीविद्यावरिवस्या* (पूजापद्धति), *भक्तिसुधा*, *भुवनेश्वरीवरिवस्या*, *साम्बपञ्चाशिका* (हिन्दी व्याख्या) *विरूपाक्षपञ्चाशिका* (हिन्दी व्याख्या), *श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र*, *श्रीमहागणपतिवरिवस्या*, *उपचारमीमांसा* आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर ***श्रीविद्यार्णवतन्त्र*** (भाग १-२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति संग्रहालय है, जिसमें आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश और विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थों, आगम-तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा श्रीविद्यासाधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री शाङ्करी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयन्त्र की स्थापना भी की गयी है, जहाँ प्रतिदिन श्रीयन्त्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय १० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ निःशुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छात्रवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सामान्यतः आगमतन्त्र के रहस्यों को साधकों तक उपलब्ध कराने हेतु षणमासिकी पत्रिका *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

श्रीविद्यासाधना पीठ द्वारा प्रकाशित श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा सम्पादित एवं रचित ग्रन्थों की सूची

१. श्रीविद्यारत्नाकर:	१४०/-
२. श्रीविद्यावरिस्या (पूजा विधि सहित)	७०/-
३. श्रीमहागणपतिवरिवस्या	६०/-
४. श्रीभुवनेश्वरीवरिवस्या	५०/-
५. श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम्	२०/-
६. उपचारमीमांसा	५०/-
७. मन्त्र महायोग	२०/-
८. श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय	२०/-
९. श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् प्रथम एवं द्वितीय खण्ड (हिन्दी भावविवृति सहित) प्रति सेट	१८००/-

लेखकों से निवेदन

१. संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेजी भाषाओं में ही लेख पत्रिका में स्वीकृत किए जाएँगे।

२. उपर्युक्त भाषाओं में लिखे गये लेख शुद्ध, स्पष्ट एवं टंकित अथवा सुवाच्य हस्तलिखित होना चाहिए।

३. तन्त्र, आगम, मन्त्र, साधना, उपासना विधि आदि आनुषंगिक विषयों के लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार किये जायेंगे।

४. शोधस्तरीय, मौलिक तथा नवीन विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक उच्च स्तरीय लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार्य होंगे।

५. सभी लेख १० फुलस्केप अथवा ए-४ साइज कागज पर एक तरफ टंकित अथवा स्पष्ट हस्तलिखित होना चाहिए।

६. सम्पादकीय मण्डल एवं विषय विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकित एवं संस्तुत मौलिक लेखों को ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया जाएगा।

७. लेखों के साथ अपेक्षित चित्र, चार्ट अथवा डायग्राम आदि भी प्रतिपादित विषय की स्पष्टता के लिए संलग्न किये जाने चाहिए।

८. लेखकों द्वारा प्रेषित लेख पंजीकृत डाक द्वारा अपने व्यय पर सुरक्षित प्रेषित किया जाना चाहिए। प्रेषित लेख की प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित रखें, ताकि लेख अस्वीकार्य्य होने की दशा में आपकी रचना आपके पास संरक्षित रह सके।

९. जो लेख प्रेषित किया जाय वह प्रकाशन से ३ महीने पूर्व कार्यालय में पहुँचना अनिवार्य है।

१०. समस्त लेखकों को, जिनके लेख पत्रिका में प्रकाशित हैं, उनको पत्रिका की एक प्रति डाक द्वारा प्रेषित की जाएगी।

११. प्रकाशनार्थ लेखों को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक मण्डल द्वारा सुरक्षित रहेगा।

१२. पत्रिका में प्रकाशित लेखों में निहित सूचनाओं, विचारों, सामग्रियों आदि का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।

१३. सम्पादक मण्डल द्वारा निर्णित शोध एवं मौलिक लेख पुरस्कृत भी किए जा सकते हैं।

१४. लेखों के विषय में कोई विवाद किसी संस्था या न्यायालय द्वारा आपत्ति उठाये जाने पर लेखक द्वारा सीधे इसका प्रत्युत्तर एवं संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करना आवश्यक होगा।

१५. तन्त्र आगम से सम्बन्धित दुर्लभ मन्त्र, यन्त्र तथा स्तोत्र आदि भी प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे।

१६. पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ निःशुल्क भेजना आवश्यक है। पत्रिका के जिस अङ्क में समीक्षा प्रकाशित होगी, उसकी एक प्रति निशुल्क उपलब्ध कराई जाएगी।

श्रीयन्त्रम्